कलम, तलवार और त्याग

भाग २

प्रेमचंद

सरस्वती प्रेस
इलाहाबाद वाराणसी दिल्ली

प्रकाशकीय

हिन्दी के अमर कथाकार प्रेमचन्द का योगदान केवल कहानियों अथवा उपन्यासों तक ही सीमित नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व, तत्कालीन युग-चेतना के सन्दर्भ में उन्होंने कुछ महापुरुषों के जो प्रेरणादायक और उद्बोधक शब्द-चित्र अंकित किए थे, उन्हें "कलम, तलवार और त्याग" में इस विश्वास के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है कि किशोर-किशोरियों के लिए ये न केवल ज्ञानवर्द्धक, प्रत्युक मनोरंजक भी सिद्ध होंगे।

इन्हे पढते समय पाठकों को इतना ध्यान अवश्य रखना होगा कि कुछ सन्दर्भित तथ्य आज सर्वथा परिवर्तित हो चुके हैं। लेखक की युगानुभूति को परिवर्तित करना एक अनाधिकार चेष्टा ही मानी जाती, अतः 'जस की तस धर दीनी चदरिया' ही हमारा लक्ष्य रहा है।

—प्रकाशक

अनुक्रम

राजा टोडरमल

यों तो अकबर का दरबार विद्या और कला, नीतिज्ञता और कार्यकुशलता का भंडार था; पर इतिहास के पन्नों पर टोडरमल का नाम जिस आबताब के साथ चमका, राज्य-प्रबन्ध और शासन-नीति में जो स्मरणीय कार्य उसके नाम से संयुक्त हैं, वह उसके समकालीनों में से किसी को प्राप्त नहीं। खान खानाँ, खानजमाँ और खानआज़म की प्रलयंकारी तलवारें थीं, जिन्होंने अकबरी दुनिया में धूम मचा रखी थीं; पर बिजलियाँ थीं कि अचानक कौंधीं और आँखों से ओझल हो गईं। अबुल फ़ज़ल और फ़ैजी के अनुसंधान और गहरी खोजें थीं कि जिज्ञासु जन चाहें, तो आज भी उनसे अपनी ज्ञान-परिधि का विस्तार कर सकते हैं। परन्तु टोडरमल की याद-गार, वह शासन-व्यवस्थाएँ और विधान हैं, जो सभ्यता और संस्कृति की इतनी प्रगति के बाद भी आज तक गौरव की दृष्टि से देखे और श्रद्धा के साथ बरते जाते हैं। न काल की प्रगति उन्हें छूने का साहस कर सकी और न शासन-प्रणाली के अदल-बदल।

टोडरमल जाति का खत्री और गोत्र का टंडन था। उसके जन्मस्थान के विषय में मतभेद हैं, पर एशियाटिक सोसाइटी की नई खोजों ने निश्चित कर दिया है कि अवध प्रदेश के लाहरपुर ग्राम को उसकी जन्मभूमि होने का गौरव

प्राप्त है । माँ-बाप निर्धनता के कारण कष्ट से दिन बिता रहे थे । उस पर यह विपत्ति और पड़ी कि अभी टोडरमल के हाथ-पाँव संभलने न पाए थे कि बाप का साया भी सिर से उठ गया और विधवा माता ने न मालूम किन कठिनाइयों से इस होनहार बच्चे को पाला । पर भगवान् की लीला को देखिए कि यही अनाथ और असहाय बालक सम्राट अकबर का प्रधान मंत्री हुआ, जिसकी लेखनी की सत्ता सारे भारतवर्ष में व्याप्त थी । दुनिया में बहुत कम ऐसी माताएँ होंगी जिनके लड़के ऐसे सपूत होंगे और कम ही किसी सन्त-महात्मा का आशीर्वाद ईश्वर के दरबार में इस प्रकार स्वीकृत हुआ होगा।

उस ज़माने में जब कि शिक्षा ऊँची श्रेणीवालों तक ही सीमित थी और आज की शिक्षा संबंधी सुविधाओं का नाम भी न था, इस निर्धन बालक की पढ़ाई-लिखाई क्या हो सकती थी । हाँ, वह स्वभावतः तीक्ष्णबुद्धि, परिश्रमी और ढंग से काम करनेवाला था और यह अभ्यास वय के साथ-साथ दृढ़ होते गए । अभी वयस्क भी न होने पाया था कि जीविकोपार्जन की आवश्यकता ने घर से बाहर निकाला । शेरशाह सूरी उन दिनों भारत का भाग्य-विधाता हो रहा था और उसका मंत्री मुजफ़्फ़र खाँ जमीन का बन्दोबस्त करने में व्यस्त था । उसकी सरकार में साधारण क्लर्क का काम करने लगा । पर नैसर्गिक प्रतिभा और सहज गुण कब छिपे रहते हैं ? अपनी कार्य-कुशलता और श्रमशीलता की बदौलत आगे-आगे रहने लगा, और दफ्तर के अनेक विभाग उसके अधीन हो

गए। चूंकि आरंभ से ही उसको पुस्तकाध्ययन और नई-नई बातों को जानने का शौक था, बहुत जल्द दफ्तर के कामकाज और सारी बातों का वह पूरा जानकार हो गया। इस बीच जमाने ने करवट बदली। सूरी वंश का ह्रास हुआ और हुमायूँ का भाग्य जागा; पर वह भी कुछ दिनों में स्वर्ग को सिधारा और अकबर ने राजमुकुट सिर पर धरा। वह आदमी को परखनेवाला था। एक ही निगाह में ताड़ गया कि यह नौजवान मुंशी एक दिन जरूर नाम करेगा। उसे अपनी सरकार में ले लिया और दरबार में रहने का हुक्म दिया।

पर अकबर का दरबार वह उद्यान न था, जहाँ कोई निरा सिपाही या निरा मुंशी यश और सम्मान के फूल चुन सकता। टोडरमल अब तक कलम के जौहर दिखाता रहा। पर सन् १५६५ ई० में आवश्यकता हुई कि वह यह दिखाए कि मैं किस रग-पट्ठे और दमखम का सिपाही हूँ। उन दिनों हुसैन कुली खाँ-खाँजमा ने फसाद पर कमर बाँधी थी। वह अपने समय का बड़ा ही रणकुशल, पराक्रमी योद्धा था, और कितने ही मारकों में अपने साहस तथा वीरता का प्रमाण दे चुका था। खुद तो बिहार और जौनपुर के सूबे दबाए बैठा था और अपने छोटे भाई बहादुरखाँ को, जो वीरता और साहस में उसी का जोड़ी था, अवध की ओर रवाना किया था।

अकबर ने मीर मुइज्जुलमुल्क को भेजा कि बहादुरखाँ को गिरफ्तार करके दरबार में हाजिर करे। पर ..

काम न बनते देखकर टोडरमल को भेजा कि विकृत मस्तिष्क नमकहरामों को चेतावनी दे दे और इससे काम न निकले, तो कान उमेठकर अक्ल ठिकाने कर दे। टोडरमल तुरंत इस मुहिम पर रवाना हुआ, पर मुकाबला ऐसा करारा था और मीर मुईज्जुलमुल्क, जिनके नाम सेनापतित्व था, ऐसा कच्चा सिपाही था कि शाही फ़ौज को पीछे हटते ही बना। हाँ, धन्य है टोडरमल को कि मैदान से न टला और इस हार में भी मानो उसकी जीत ही रही। अकबर ने पहली बार परीक्षा ली थी, उसमें पूरा उतरा। फिर तो उसकी लेखनी की तरह उसकी तलवार भी सर्राटे भरने लगी। जिस मुहिम पर जाता, विजय लक्ष्मी उसके गले में जयमाल डालती। चित्तौड़, रणथंभौर और सूरत की विजयों में उसने अपना लोहा मनवा दिया और अपने समय के प्रौढ़ सम्मानित सेनानायकों में गिना जाने लगा।

पर सबसे बडी मुहिम, जिसने उसकी वीरता का सिक्का बिठा दिया और जिसमें उसने अपने जीवन के सात साल लगा दिये, बंगाल की चढ़ाई थी। खाँजमाँ ने सन् १५६७ ई० में अपनी करनी का फल पाया, और मुनइम खाँ खाँनखानाँ उसकी जगह सेनापति बनाया गया। पर कुछ तो वह स्वभाव से ही शान्ति-प्रिय था, और कुछ बंगाल के अफगान युद्ध ने तूल खींचा। अन्त को शाही फौज के लोग आठों पहर की दौड़धूप से ऊब गए और जी चुराने लगे। अकबर को इन सब बातों की गुप्त सूचना मिलती रहती थी। सोचा कि किसी ऐसे दृढ़चित्त और

अनुशासनविद् व्यक्ति को बंगाल भेजे, जो सारी सेना को अनुशासन के शिकंजे में कसकर उसकी नसें ढीली कर दे। ऐसा आदमी टोडरमल के सिवा और कोई दिखाई न दिया। अत: राजा कुछ नामी योद्धाओं के साथ बंगाल को रवाना हुआ।

बंगाल में राजा टोडरमल ने वह-वह काम किए जिनसे इतिहास के पन्ने सदा चमकते रहेंगे। यह उसी की बुद्धि विलक्षणता थी, जिसने सारे बंगाल में अकबर की दुहाई फिरवा दी। उसके एक हाथ में तलवार है, दूसरे में तेग़ा। काम की भीड़ से दम मारने की फ़ुरसत नहीं। कहीं तो वह तलवार के जौहर दिखाता है, कहीं काग़ज़ी घोड़े दौड़ाता है। रण में जहाँ अड़ जाता, वहाँ से हटना नहीं जानता। सिपाहियों को ऐसा बढ़ाता, ऐसा ललकारता है कि हारी हुई लड़ाई जीत लेता है। यह उसी का दिल है कि तुर्क व तातारी सिपाहियों को धोखा देना, जिनकी घुट्टी में पड़ा हुआ है, कहीं मित्रोचित चेतावनी से, कहीं डरावे से, कहीं लालच से काबू में रखता है। उसकी सतत विजय ने पठानों के छक्के छुड़ा दिए। दाऊद ख़ाँ आख़िरी बार अपने दिल के अरमान निकालकर क़तल हुआ। बंगाल सूबे पर अकबरी पताका फहराने लगी और टोडरमल विजय की दुंदुभी बजाता, यश के घोड़े पर सवार राजधानी को लौटा और यथापूर्व मंत्रित्व के काम करने लगा। मोतमिदुद्दौला की उपाधि पायी और विद्या से और भी मान-सम्मान का अधिकारी हुआ।

इसी बीच खबर मिली कि वज़ीरखाँ की गुस्ताखी से गुजरात में गड़बड़ मच रही है। फौरन टोडरमल को हुक्म हुआ कि जाकर वहाँ की स्थिति को सुधारे। राजा साहब रवाना हुए और वहाँ पहुँचकर माल महकमे आदि की जाँच करने लगे। इतने ही में यह गुल खिला कि गुजरात के फसादियों ने बगावत मचा दी। वजीर खाँ की हिम्मत छूट गई। किला बन्द हो गया और साथ ही दूत दौड़ाए कि भागाभाग टोडरमल को खबर करें। राजा भला ऐसी खतरे और परेशानी की खबर सुनकर कब एक क्षण का विलम्ब सहन कर सकता था? तुरन्त बागियों पर धावा किया। वज़ीर खाँ को मर्द बनाकर किले के बाहर निकाला और दुश्मनों को दोलका के तंग मैदान में जा लिया। वहाँ खूब घमासान लड़ाई हुई। शत्रुपक्ष की नीयत थी कि राजा को ठिकाने लगाएँ। वह पहले ही घात लगाए बैठा था। परन्तु राजा की सिंह सुलभ ललकार और वज्रघातिनी तलवार ने उसका सब तानावाना तोड़ डाला। वह मुहिम मारकर यशोमण्डित राजधानी को लौटा और दूना मान-सम्मान प्राप्त किया।

पर वह समय ही कुछ ऐसा घटनापूर्ण था और सच्चे कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारियों का कुछ ऐसा टोटा था कि टोडरमल जैसे उत्साही कार्यकुशल सेवक को चैन से बैठना संभव न था। गुजरात मे आया ही था कि बंगाल में फिर जोरशोर से आँधी उठी; पर इस बार उसका रंग कुछ और ही था। सेना और सरदार सेनापति से बाग़ी हो गए थे। अकबर ने टोडरमल

को रवाना किया और उसने इस विप्लव को ऐसी चतुराई और सुन्दर युक्तियों से ठंडा किया कि किसी को कानोंकान खबर न हुई, नहीं तो दुश्मन कब सिर उठाने से बाज रहता! राजा से ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाले कुछ पामरों ने घात लगाई थी कि सेना के निरीक्षण के समय राजा का काम तमाम कर दें, पर वह एक ही सयाना था। साफ निकल गया।

१५८२ ई० में आगरे को लौटा। अपनी सच्ची स्वामिभक्ति और सेवाओं के कारण राज्य का 'दीवाने माल' अथवा अर्थमंत्री बना दिया गया, और २१ सूबों पर उसकी कलम दौड़ने लगी। इस समय से मृत्युकाल तक टोडरमल को अपनी कलमका जोहर और राज्य-प्रबन्ध विषयक प्रतिभा के चमत्कार दिखाने का खूब मौका मिला। केवल एक बार यूसुफ़जइयों की मुहिम में राजा मानसिंह को सहायतार्थ जाना पड़ा था।

यद्यपि राजा बहुत ही साधु स्वभाव और शुद्ध निश्छल हृदय का व्यक्ति था; फिर भी १५८९ ई० में किसी दुश्मन ने उस पर तलवार चलायी। सौभाग्यवश वह तो बाल-बाल बच गया, पर उसका फल एक अभागे खत्री बच्चे को भुगतना पड़ा। गहरा सन्देह है कि यह किसी द्वेष रखनेवाले सरदार या अधिकारी का इशारा था; संभवतः यह हमला मौत का ही था, क्योंकि इस घटना के थोड़े ही दिन बाद राजा को इस लोक से विदा हो जाना पड़ा। निर्दयी ने दूसरा हमला ज्वर के रूप में किया और अबकी जान लेकर ही छोड़ा।

ऐतिहासिकों ने टोडरमल पर खूब आलोचना-प्रत्यालोचना

की है; पर जिन लोगों को उससे आत्यन्तिक मतभेद है, वह भी उसका भला ही मानते हैं। अकबर के समस्त बड़े अधिकारियों और सरदारों में वह सबसे अधिक सच्चा और विश्वासी शुभ-चिन्तक था। उनके सिवा और कोई मन्त्री, सूबेदार आदि ऐसा न था, जिसने दगा देने और नमकहरामी का धब्बा अपने ऊपर न लगाया हो। वही एक पुरुष है, जिसकी नेकनामी की चादर बगुले के पर की तरह स्वच्छ है। रागद्वेषयुक्त ऐतिहासिकों ने उस पर धब्बे लगाने की कोशिश जरूर की, पर विफल रहे।

टोडरमल की कारगुजारियों को बयान करना अकबर के राज्यकाल का इतिहास लिखना है। ऐसा कौन सा विभाग था—दीवानी, माल या सेना, जिस पर टोडरमल की कार्य-कुशलता और प्रबन्ध-पटुता की मुहर न लगी हो। शाही लश्कर पहले कोसों में उतरा करता था। हाथीखाना कुछ यहाँ है तो कुछ वहाँ। तोपखाने का एक हिस्सा इस सिरे पर, तो दूसरा उस सिरे पर। सारांश बड़ी अस्तव्यस्तता रहा करती थी। टोडरमल की नियमप्रिय प्रकृति ने पैदल, सवार, तोपखाना, रसद, बाजार लश्कर आदि के उतारने के लिए व्यवस्थाएँ निकालीं। इसी सिलसिले में 'आइने दाग़' अर्थात् घोड़े पर दाग़ लगाने के नियम की चर्चा भी आवश्यक मालूम होती है। पहले स्थायी सेना न रखी जाती थी। सामन्तों और सरदारों को जागीरें मिल जाया करती थीं और उनको हुक्म था कि जब आज्ञा हो, अपनी नियत से सेना के साथ दरबार में हाजिर हुआ करें। सरदार इसमें दांवपेच निकालकर जेब भरते,

हाजिरी और जांच के समय घोडों की नियत संख्या इधर उधर से मांग-जांचकर दिखा देते। जब यह बला सिर से टल जाती, तो फिर वही ढर्रा पकड़ लेते। टोडरमल ने इसका भी प्रतिकार किया कि जांच के समय घोडों पर दाग लगा दिया जाता, जिसमें धोखेबाजी का कोई मौका न रहे।

सिकन्दर लोदी के जमाने तक हिन्दू लोग आम तौर से फारसी या अरबी न पढ़े थे, इन्हें 'म्लेच्छ विद्या' कहते थे। टोडरमल ने प्रस्ताव किया कि संपूर्ण भारत साम्राज्य के सब दफ्तर फारसी में हो जाएँ। पहले तो हिन्दू इस योजना से चौंके, पर टोडरमल ने उनके दिलों में यह बात अच्छी तरह बैठा दी कि राजा की भाषा जीविका की कुंजी है। ऊँचे पद, अधिकार और सम्मान चाहते हो, तो राजभाषा को सीखकर पा सकते हो। अकबर ने भी सहारा दिया। योजना चल निकली और कुछ ही साल के अरसे में बहुत हिन्दू फारसीदाँ हो गए। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि टोडरमल उर्दू भाषा का पूर्व पुरुष है, क्योंकि यह उसी की दूरदर्शिता का फल है कि हिन्दुओं में फारसी का चलन हुआ। फारसी शब्द मामूली घरेलू बोलचाल में प्रयुक्त होने लगे, और इस प्रकार रेखते* से उर्दू की जड़ मजबूत हुई।

टोडरमल गणना शास्त्र—हिसाब-किताब—की विद्या में अपने समय का सर्वमान्य आचार्य था। पहले शाही ॥

*उर्दू का पहला नाम, जिसका अर्थ है मिली-जुली खिचड़ी भाषा, उर्दू भाषा अरबी, फारसी, तुर्की, हिन्दी आदि शब्दों की खिचड़ी है।

विभाग बिलकुल अव्यवस्थित था। कहीं कागज़ात फ़ारसी मे थे, कहीं हिन्दी में। टोडरमल ने इस अस्तव्यस्त स्थिति को भी नियम-व्यवस्था की श्रृंखला में बाँधा। यद्यपि इस सम्बन्ध में ख्वाजाशाह मंसूर मुजफ्फ़र खाँ और आसिख खाँ ने भी बड़े-बड़े काम किए, पर टोडरमल की कीर्ति की चमक-दमक के सामने उनका कुछ मूल्य न रहा। बहुत से नकशे और तालिकाओं के नमूने 'आइने अकबरी' में दर्ज हैं, आज भी उन्ही की खानापूरी की जाती है। यहाँ तक कि सांकेतिक शब्दावली में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

पर सबसे महान् कार्य जो टोडरमल की यादगार है और जिसने सारे सभ्य जगत में अर्थनीतिज्ञों में उसको विशिष्ट स्थान दे रखा है, उसका मालगुजारी का बन्दोबस्त है, जिसको संक्षेप में बता देना, विस्तार भय होते हुए भी हम आवश्यक समझते हैं।

पहले मालगुजारी का प्रबन्ध कूते पर था। टोडरमल की सलाह से सारी अधिकृत भूमि की पैमाइश की गई। पहले ज़रीब रस्सी की होती थी, इससे सूखी और तर ज़मीन में अन्तर पड जाता था। इसलिए बाँस के टोंटों में लोहे की कड़ियाँ डालकर जरीबें तैयार की गईं। सारी सूखी और गीली ज़मीन मय पहाड़, जंगल, ऊसर, बजर के नाप डाली गईं। कुछ गाँवों का परगना, कुछ परगनों की सरकार और कुछ सरकारों का एक सूबा ठहराया गया। बन्दोबस्त दस साला नियत हुआ। अब ३० साला नियत

है। राजस्व का नियम यह बाँधा कि बारानी अर्थात् ऐसी जमीन में, जहाँ वर्षा के जल से अन्न उत्पन्न होता हो, आधा किसान का और आधा बादशाह का और सिंचाईवाली जमीन में हर खेत पर चौथाई खर्च और उसकी खरीदबेची की लागत लगाकर अनाज में एक तिहाई बादशाही। ईख इत्यादि पर, जो आला जिन्स कहलाती हैं, और पानी, निगरानी, कमाई आदि की मेहनत अनाज से ज्यादा खाती हैं, प्रकार के अनुसार १।४, १।५, १।६, या १।७ हक बादशाही, बाकी हक काश्तकार। 'आईने अकबरी' में इनके नियम जिन्सवार लिखे हैं।

यूरोपीय महापुरुषों की तरह टोडरमल ने भी हर काम को निश्चित सिद्धान्त और समयों के अनुसार करने की आदत डाल रखी थी। समस्त विभागों के दफ्तर कठपुतली की तरह उसकी उँगली के इशारे पर काम करते थे। अकबर जैसा गुणों की परख करनेवाला बादशाह इन गुणों की कद्र न करता, यह असंभव था। इसमें सन्देह नहीं कि उनके नियम-प्रतिबन्धों के कारण बड़े और प्रभावशाली लोग अक्सर दिल में जला करते थे। इसी से अकबर के काल के इतिहास-लेखकों ने उसे अभिमानी और घमण्डी लिखा है। पर ध्यान रहे कि नियमनिष्ठ लोग अक्सर स्वार्थी जनों की झूठी तुहमतों के शिकार हो जाते हैं। यह टोडरमल की सौम्य वृत्ति और विवेकशीलता ही थी, जिससे वह अपनी इज्जत-आबरू सँभाले रहा, नहीं तो दरबार के प्रभावशाली व्यक्तियों ने उसकी बुराई करने में कोई कसर न रखी थी।

टोडरमल को घमण्डी कहना वस्तुस्थिति पर धूल डालना है। बंगाल में उसने ७ साल तक असि-संचालन किया और यद्यपि सारी सेना उसकी भृकुटि के संकेत पर चलती थी, पर उसने कभी सेनापतित्व का दावा न किया। उसने अपने को ऊँचा करना सीखा ही न था और अकबर जैसा गुण-पारखी मालिक उसको न मिल जाता, तो किरानी का पद ही उसकी उन्नति का शिखर बनकर रह जाता। इस नम्रता के साथ प्रकृति में स्वाधीनता भी ऐसी थी कि बंगाल में मुनइम खाँ खानखानाँ ने जब दाऊद खाँ से सुलह भी की, तो टोडरमल ने उसका विरोध किया और अपनी बात पर ऐसा अड़ा कि संधिपत्र पर मुहर तक न की। इसी स्वाधीनता-प्रियता से जलन रखनेवालों की संकीर्णता ने घमंड और अहंकार का रूप दे दिया। इस स्वातंत्र्य प्रियता के साथ स्पष्ट भाषिता का गुण भी उसे काफी मिला था। बादशाह के मुँह पर बात कहने से न चूकता। सैकड़ों लम्बी दाढ़ीवाले मुल्ला दरबार की हवा में आकर नास्तिकता की घोषणा करने लगे थे; पर टोडरमल अन्त समय तक कट्टर धर्मनिष्ठ हिन्दू बना रहा। जब तक ठाकुरजी की पूजा न कर लेता, अन्न मुँह में न डालता। इससे बढ़कर स्वतन्त्र विचार का होने का और क्या प्रमाण हो सकता है!

श्री गोपालकृष्ण गोखले

भारतीय महापुरुषों में यों तो प्रायः सभी के जीवन चरित्र अतिशय उत्साहवर्द्धक हैं, पर उस निष्काम देशभक्ति और आत्मत्याग का उदाहरण, जिसने गोपालकृष्ण गोखले को सारे राष्ट्र के लिए गर्व और गौरव की वस्तु बना रखा है, कठिनाई से और कहीं मिल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि देश में आज ऐसी विभूतियाँ विद्यमान हैं, जिनका बुद्धि-वैभव अधिक विशाल है, जिनका पाण्डित्य अधिक गंभीर है, जो पद-प्रतिष्ठा में आपसे बड़े हैं; पर वह सच्चा देश प्रेम, जिसके कारण आपने अपने-आपको देश पर निछावर कर दिया है, अपनी विस्तृत गहराई और लगन में बेजोड़ है। आपका जीवन उत्साही युवकों के लिए उच्चाकांक्षा का अनुकरणीय उदाहरण है। आज आपको देश के राजनीतिक मंडलों में बहुत ही ऊँचा पद प्राप्त है। और यह कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि आपके देशवासी आपकी पूजा करते हैं। इसका प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि महात्मा गांधी जैसे पूजनीय पुरुष भी आपको गुरु मानते हैं। और इसमें तो शक शुबहे की गुंजाइश ही नहीं है कि व्यवस्थापिका सभा में आपने जो बड़े-बड़े काम किए हैं, वह उसके इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

गोखले का जन्म १८६३ ई० में महाराष्ट्र के कोल्हापुर

नगर में हुआ। माँ-बाप अगर निर्धन और अर्थकष्ट में न थे, तो किसी प्रकार संपन्न भी न थे। आपने वहीं के स्कूलों में पढ़कर एफ० ए० पास किया और फिर बम्बई जाकर एलफिस्टन कालेज में नाम लिखाया। प्राचीनता और देशोपकार की दृष्टि से यह कालेज भारत के सब कालेजों का सिरमौर है। दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता जैसे राष्ट्रनायकों की शिक्षाशाला होने का गौरव इसी कालेज को प्राप्त है। मिस्टर गोखले की नैसर्गिक प्रतिभा की यहाँ बहुत जल्दी धूम मच गई। विद्यार्थी और अध्यापक सभी आदर की दृष्टि से देखने लगे। गणित से आपको विशेष रुचि थी और कालेज के गणिताध्यापक मिस्टर हाथार्न अपने होनहार शिष्य के बुद्धि-वैभव पर गर्व किया करते थे।

चूंकि आपके माँ-बाप पढ़ाई का खर्च न उठा सकते थे, इसलिए यह अत्यावश्यक था कि परीक्षाफल ऐसा हो, जिससे आप छात्रवृत्ति के अधिकारी ठहराए जाएँ और कोई भी आदमी, जो आप और आपके गुणों से परिचित था, आपकी सफलता में रत्ती बराबर भी संदेह न कर सकता था। पर कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि आप सम्मान के साथ बी० ए० की उपाधि न प्राप्त कर सके। इस विफलता से आपको जो दुःख हुआ, उसका अन्दाजा वही अच्छी तरह कर सकता है, जिसकी आशाओं पर इस प्रकार पानी फिर गया हो। अन्त में जीविका की चिन्ता आपको पूना ले गई। यहाँ इंजीनियरिंग कालेज में भरती होने का विचार था, जिसके लिए गणित में

प्रवीण होने से आप विशेष रूप से उपयुक्त थे। पर सफलता फिर अपना अमंगल-रूप लेकर सामने आई। प्रवेश की परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और प्रिंसपल ने आपको भरती करने में असमर्थता प्रकट की। इस नई विफलता से आपका मन और भी छोटा हो गया। फल मनचाहा होता, तो आप किसी डिवीज़न के इंजीनियर हो जाते और धन-वैभव के विचार से आपकी स्थिति कहीं अच्छी होती, मगर आपके हृदय व मस्तिष्क के उच्च गुणों की अभिव्यक्ति जाने किस क्षेत्र में होती। सच तो यह है कि आपके भाग्य में देश और जाति पर निछावर होना लिखा था। आपकी वह विफलताएँ, जो आपकी निजी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हुईं, राष्ट्र के लिए ईश्वर की बहुत बड़ी देन सिद्ध हुईं। भगवान करे, ऐसी विफलताएँ, जिनके शुभ परिणामों पर सहस्त्रों सफलताएँ ईर्ष्या करें, सबको प्राप्त हों।

उसी समय वहाँ दक्षिण के कुछ उदार हृदय, उत्साही देशभक्तों ने जनसाधारण की शिक्षा के लिए एक अँगरेजी स्कूल खोला था और मिस्टर तिलक, मिस्टर आप्टे और अन्य महानुभावों के संरक्षण में 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' नाम से एक संस्था स्थापित हुई थी, जिसका उद्‌देश्य उच्च शिक्षा का प्रचार था। मिस्टर गोखले ने जीविका का और कोई उपाय न देख, इसी विद्यालय में एक पद स्वीकार कर लिया। आगे चलकर यही विद्यालय फ़र्गुसन कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज तक दक्षिण की सहानुभूति, देशसेवा के उत्साह

और आत्मत्याग के सजीव स्मारक रूप में विद्यमान है। उक्त संस्था के प्रत्येक सदस्य को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि इस कालेज में बिना पारिश्रमिक का विचार किए, यथाशक्ति शिक्षण कार्य करता रहूँगा।

भारतवर्ष अनन्तकाल तक उन महानुभावों के आत्मत्याग का ऋणी रहेगा, जिन्होंने अपने निजी लाभ की ओर न देखकर अपना जीवन देशसेवा के लिए अर्पण कर दिया और जिनके सत्प्रयत्न के फलस्वरूप एक छोटा सा स्कूल आज देश का एक सुविख्यात और सुसम्मानित राष्ट्रीय महाविद्यालय है। प्रसन्नता की बात है कि देशसेवा का उत्साह, जिसने फ़र्गुसन कालेज को पाला-पोसा, आज हमारे ज्ञानलोक से वंचित प्रान्त में भी विशेष रूप से प्रकट हो रहा है और कुछ प्रगतिशील देशभक्तों ने सेंट्रल हिन्दू कालेज के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया है और उनकी यह तपस्या आगे चलकर अवश्य सफल होगी।

मध्यवित्त वर्ग के दूसरे नवयुवकों की तरह गोखले के हृदय में भी नाम-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त धन-सम्पत्ति की भी आकांक्षा भरी हुई थी। यह नौकरी उन्होंने आवश्यकता से विवश होकर केवल अस्थायी रूप में स्वीकार कर ली थी। पर जब संस्था के सदस्यों के साथ उठने-बैठने, रहने-सहने और विचार-विनिमय का अवसर मिला, तो उनके उदार और सहानुभूतियुक्त विचारों का इन पर भी गहरा असर पड़ा। आप भी उसी रंग में रँग गए और देशसेवा की उमंग इतनी

उमड़ी कि नाम, बड़ाई, धन-दौलत के हवाई किले क्षण में धराशायी हो गए। आप जैसे युवक के लिए, जिसके पास न पैतृक सम्पत्ति थी और न आमदनी बढ़ाने का और कोई जरिया, इस शिक्षा संस्था के उद्योगों में हाथ बँटाना साधारण बात न थी—खासकर उस अवस्था में जबकि उन पर बहुतों के भरण-पोषण का भार हो। प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने से पहले कुछ समय तक आप बड़े पशोपेश में पड़े हुए थे, पर अंत में देशप्रेम की विजय हुई और आप डेकन एजुकेशन सोसाइटी में सम्मिलित हो गए, जिसका अर्थ यह था कि आप ७५ रुपये मासिक वेतन को उन्नति की चरम सीमा समझकर २० वर्ष तक शिक्षण कार्य करते रहें। इस त्याग से प्रकट हो सकता है कि आपकी दृष्टि में लोकहित का दरजा दूसरी लौकिक इच्छाओं की तुलना में क्या था। अब इस बात को सोचिए कि उस समय आपकी अवस्था कुल जमा १८ साल की थी, जब हृदय में उमंगों, आकांक्षाओं का सागर लहराता है, तो स्वीकार करना पड़ता है कि आप सचमुच देवता थे। ऐसे देशभक्त तो बहुत मिलेंगे, जो संसार के सुखभोग से परितृप्त हो जाने के बाद अन्त में थोड़े से दिन देशकार्य को दे दिया करते हैं; पर ऐसे कितने हैं, जो मिस्टर गोखले की तरह अपना तन, मन, धन सब राष्ट्र के चरणों पर समर्पण कर देने को प्रस्तुत हो जाएँ?

उक्त संस्था में सम्मिलित होने के बाद आप बड़ी लगन उत्साह और एकनिष्ठता के साथ अध्यापन कार्य में जुट गए।

अपने उत्साह और परिश्रम के कारण थोड़े ही समय में अध्यापकों में आपको विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया और कुछ ही दिनों में आप कालेज के प्राण हो गए। उस समय कालेज की आर्थिक अवस्था ऐसी बुरी हो रही थी कि मजबूरन एक मामूली से मकान में गुजर करना पड़ता था। आपने उसके लिए एक यथायोग्य, भव्य भवन बनवाने का निश्चय किया और अपने सहयोगियों के साथ दक्षिण देश का दौरा शुरू किया। लगभग तीन बरस के अथक प्रयास के बाद आपने दो लाख रुपये एकत्र कर लिये। इस सफलता ने आपकी उद्योगशीलता, कार्यकुशलता और प्रबन्धपटुता का सिक्का बिठा दिया। कालेज के लिए जल्द ही एक आलीशान इमारत बनकर तैयार हो गई, जो सदा दक्षिणात्यों की सच्ची देशभक्ति और निःस्वार्थ प्रयत्न का प्रतीक बनी रहेगी। इस महिमा-मण्डित कालेज और उसके सच्चे लगनवाले कार्यकर्ताओं के श्रम और उद्योग की सराहना लार्ड नार्थकोट और अन्य सज्जनों ने जिन शब्दों में की है, वह निश्चय ही अति उत्साहवर्द्धक है।

चूंकि देश को गोखले का चिरऋणी होना था इसलिए उसके सामान भी दैवगति से इकट्ठा होते गए। शिक्षा संबंधी कार्य करते अभी पूरे तीन बरस भी न हुए थे कि आपको उस विद्यागुण से पूरे, देवोपम, उदारहृदय, महापुरुष की शिष्यता का सुयोग प्राप्त हुआ, जिसका यश आज भारत का बच्चा-बच्चा गा रहा है। ऐसा कौन होगा, जो स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानडे के पुनीत नाम से परिचित न हो? हिन्दुस्तान

की हर दरोदीवार आज उस पुण्यकीर्ति का गुणगान कर रही है। उनका जीवन संसार के संपूर्ण सद्गुणों का उज्ज्वल उदाहरण है। उस देश के प्यारे के हृदय में देश और जाति की याद हरदम बनी रहती थी। भारतवर्ष की ऐसी कौन सी सभा-समिति थी, जिसको उस साधु पुरुष से कुछ सहायता न मिली हो। उन दिनों पूने की सार्वजनिक सभा की ओर से पत्र निकालने के लिए एक उत्साही, परिश्रमी, प्रगतिशील विचारवाले युवक की आवश्यकता थी। मिस्टर गोखले की उम्र उस समय २२ साल से अधिक न थी। कितने ही परिपक्व वय और अनुभववाले सज्जन इस पद के लिए दावेदार थे। पर श्रीयुत रानडे की जौहरी निगाह में इस कार्य के लिए आपसे अधिक उपयुक्त दूसरा दिखाई न दिया। वाह! क्या परख थी! बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि रानडे का चुनाव इससे अच्छा हो ही नहीं सकता था।

पत्र-सम्पादन का भार अपने ऊपर लेते ही आपने देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं का गंभीर अध्ययन आरम्भ कर दिया, और इन गुत्थियों को सुलझाने के लिए मिस्टर रानडे से अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था? एक सज्जन का कथन है कि 'मिस्टर गोखले एक राष्ट्रीय मीरास हैं, जो स्वर्गीय रानडे ने देश को प्रदान किया है।' और यह कथन सर्वथा सत्य है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि आप अपने गुरू के रंग में नख से शिख तक डूबे

हुए थे। एक भाषण में स्वयं सगर्व कहा था कि 'मुझे १२ वर्ष तक उस महामति की शिष्यता का गौरव प्राप्त रहा और इस बीच मैंने उनके उपदेशों से अमित लाभ उठाया।' इन शब्दों में कितनी श्रद्धा भरी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। धन्य है वह देवोपमगुरु और गुणशाली शिष्य। आज मिस्टर रानडे की आत्मा स्वर्ग में अपने शिष्य की निःस्वार्थ देशसेवा को देखकर आनंद में झूम रही होगी। मिस्टर गोखले को देश के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर जो आसाधारण अधिकार प्राप्त था, वह उसी महानुभाव के सत्संग का प्रसाद था। इस १२ वर्ष के शिष्यत्व में आपने कितनी ही आर्थिक रिपोर्टों और पत्रों के खुलासे किए, जो सशोधन के लिए श्रीयुत रानडे की सेवा मे उपस्थित किए जाते थे। और इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनके संशोधन श्रद्धावान् शिष्य के लिए आफत का सामान हो जाते थे। वह उसी कठिन साधना का सुफल था कि सरकारी आर्थिक रिपोर्टों की भूलभुलैया को कोई चीज न समझते थे और चुटकी बजाते दूध का दूध, पानी का पानी, अलग करके दिखा देते थे।

मिस्टर रानडे का सान्निध्य प्राप्त करने से आपको केवल यही लाभ नहीं हुआ कि आपको देश के उपस्थित प्रश्नों का मार्मिक ज्ञान हो गया; किन्तु दिन-रात के साथ ने आपके हृदय पर भी अपने गुरु की श्रमशीलता, दृष्टि की व्यापकता, विचारों की उदारता, निष्पक्षता, विवेचना-शक्ति और सचाई की ऐसी गहरी छाप डाल दी कि ज्यों-ज्यों दिन बीते, वह

मिटने के बदले और उभरती गई। आठ बरस तक आपने शिक्षण कार्य करने के अतिरिक्त सार्वजनिक सभा के पत्र 'ज्ञान-प्रकाश' को मिस्टर रानडे के तत्वावधान में बड़ी योग्यता से चलाया। आपके मत ऐसे प्रौढ़ और पक्के होते थे और आपके लेखों में वह सजीवता, नवीनता और ओज होता था कि थोड़े ही दिनों में वह पत्र शिक्षित समुदाय में आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। और सबको मालूम हो गया कि देश के सार्वजनिक जीवन में एक बड़े ही योग्य व्यक्ति की वृद्धि हुई है। इसका व्यावहारिक प्रमाण यह मिला कि आप बम्बई प्रान्तीय कौंसिल के मंत्री बना दिए गए और चार साल तक इस कार्य को भी आपने बड़ी तत्परता और योग्यता के साथ किया।

इन सेवाओं की बदौलत आपकी कीर्ति देश के [illegible] प्रान्तों में भी कस्तूरी की गन्ध की तरह फैलने लगी और अन्त में १८९७ ई० में आप इण्डियन नेशनल कांग्रेस [illegible] पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस साल आपको [illegible] का परिचय देने का एक सुयोग हाथ लगा। कांग्रेस और [illegible] देश-हितैषी बहुत अरसे से यह शिकायत [illegible] ऊँचे पदों पर आम तौर से अँगरेज ही [illegible] और भारतवासी अधिक योग्यता रखने पर भी [illegible] रहते हैं। अन्त में पार्लियामेंट का [illegible] हुआ और लार्ड विलबी की अध्यक्षता [illegible] नियुक्त किया गया कि इस बात [illegible]

शिकायतें कहाँ तक साधार हैं और कुछ ऐसी तजवीजें पेश करे, जो सरकार के लिए नियमावली का काम दें। दुःख है कि ब्रिटिश नेकनीयती और न्यायनिष्ठा का यह अन्तिम परिचय और प्रमाण था और ऐंग्लो इण्डियन वर्ग ने, जिस वेदर्दी के साथ इन प्रस्तावों का दलन किया, वह उनके आचरण और नीति पर सदा एक काला धब्बा बना रहेगा।

उस समय तक मिस्टर गोखले की सूक्ष्मदर्शिता, ओज भरे वक्तृत्व भारतीय प्रश्नों से सम्यक् अभिज्ञता और आर्थिक विषयों की समीक्षा की योग्यता की सारे भारत में धूम मच रही थी, इसलिए दक्षिण के लोगों के प्रतिनिधि बनाकर विलवी कमीशन के सामने मत प्रकाश के लिए भेजे गए। मिस्टर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मिस्टर दीनसाईदुलजी वाचा और मिस्टर सुब्रह्मण्य ऐयर के साथ आप इंग्लैंड गये। वहाँ कमीशन के सामने आपने जो भाषण किया, वह भाषा के सौष्ठव और ओज, युक्ति, तर्कों की सबलता और देशभक्ति के उत्साह की दृष्टि से वेजोड़ है। यद्यपि यह भाषण बड़ा लम्बा था, फिर भी कमिश्नरों ने बड़ी उदारता और प्रसन्नता के साथ उनकी सराहना की और इसमें भी सन्देह नहीं कि उनके प्रस्तावों पर उसका गहरा असर पड़ा। भारत की ग़रीबी और सरकार की अनुचित कठोरता का करुण शब्दों में वर्णन करने के अनन्तर आपने कहा—

'वर्तमान शासन-प्रणाली का यह परिणाम हो रहा है कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति दिन·

दिन छीजती जा रही है। हम दैन्य और अपमान का जीवन स्वीकार करने को बाध्य किए जाते हैं। पद-पद पर हमको इस बात की याद दिलाई जाती है कि हम एक दलित जाति के जन हैं। हमारी स्वाधीनता का गला बेदर्दी से घोंटा जा रहा है, और यह सब केवल इसलिए कि वर्तमान शासन-व्यवस्था की नींव और मजबूत हो जाय। इंग्लैण्ड का हरएक युवक, जिसको ईश्वर ने बुद्धि और उत्साह के गुण प्रदान किए हैं, आशा करता है कि मैं भी किसी न किसी दिन राष्ट्र रूपी जहाज का कप्तान बनूंगा, मैं भी किसी न किसी दिन ग्लैडस्टन का पद और नेलसन का यश प्राप्त करूँगा। यह भावना एक स्वप्न मात्र क्यों न हो, पर उसके उत्साह और उच्चाकांक्षा को उभारती है। वह जी-जान से गुण सीखने और योग्यता बढ़ाने के यत्न में लग जाता है। हमारे देश के अभागे नौजवान ऐसे उत्साहवर्द्धक स्वप्न नहीं देख सकते। वे ऐसे ऊँचे हवाई महल भी नहीं उठा सकते। वर्तमान शासन-प्रणाली के रहते यह संभव नहीं कि हम उस ऊँचाई तक पहुँच सकें, जिसकी शक्ति और योग्यता प्रकृति ने हमें प्रदान की है। वह नीति बल, जो प्रत्येक स्वाधीन जाति का विशेष गुण है, हममें लुप्त होता जा रहा है। अन्त में इस स्थिति का शोचनीय परिणाम यही होगा कि हमारी शासन-प्रबन्ध औ की योग्यता अव्यवहारवश नष्ट हो जायगी औ

जाति का इतना अधःपतन हो जायगा कि हम लकड़ी काटने और पानी भरने के सिवा और किसी काम के न रह जायँगे।'

कमीशन के सामने गवाही देने के बाद मिस्टर गोखले ने लन्दन और इंग्लैंड के दूसरे जिलों का भ्रमण आरम्भ किया, जिससे अपनी जोरदार वक्तृताओं से ब्रिटिश जनता के हृदय में भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करें और देश की स्थिति के विषय में उनकी शोचनीय उपेक्षा तथा अनभिज्ञता को दूर करें। आपके इन सत्प्रयत्नों की दाद ब्रिटिश जनता ने दिल खोलकर की। आपके भाषणों के साथ बड़ी दिलचस्पी दिखाई गई। सब ओर से साधुवाद की वर्षा होने लगी, बधाई के पत्र आने लगे और कुछ दिनों में सब पर आपके वक्तृत्व और विद्वत्ता का सिक्का जम गया। पर उस समय जब आप कृतकार्य होकर भारत लौटनेवाले थे, एक अनिष्ट घटना घटित हुई, जिसके कारण कुछ दिनों तक आपको अपने अनभिज्ञ, नासमझ देशवासियों से लांछित होना, उनके निष्ठुर व्यंग्य-आक्षेपों का निशाना बनना पड़ा।

उन दिनों बम्बई के शासन की बागडोर लार्ड सैंडर्स्ट के हाथों में थी। प्लेग के प्रतिबन्ध के लिए आपने बड़े कड़े नियम प्रचारित किए थे और उनको काम में लानेवाले अहलकार उन पर हाशिया चढ़ाकर जनता पर अवर्णनीय अत्याचार करते थे। सो जब पूने में इस महामारी का प्रकोप हुआ, सरकारी कर्मचारी उसके प्रतिबन्ध की धुन में अंधेर मचाने

लगे, तो जनता भड़क उठी। शिक्षित जनों को भी अधिकारियों का यह हस्तक्षेप अनुचित जान पड़ा। उन्होंने इसका जोरों से विरोध किया। समाचार पत्रों ने भी उनका साथ दिया। पर नौकरशाही की निद्रा न टूटी। अन्त में दो अँगरेजों—रैंड और आयर्स्ट—को, जो जनता की भी निगाह में इन सारी ज्यादतियों के लिए कारणभूत थे, सरकार की करनी और जनता के क्रोध का फल भुगतना पड़ा।

इन दो अँगरेजों के कतल से अँगरेज अधिकारियों के कान खड़े हो गए। उनको संदेह हुआ कि यह उपद्रव शिक्षित वर्ग का उठाया हुआ है। अँगरेजी अखबारों ने भी हल्ला मचाना शुरू किया और प्रतिहिंसा के आवेश में ईश्वर जाने, क्या-क्या लिख डाला। किसी ने सलाह दी—हिन्दुस्तानी अखबारों की धज्जियाँ उड़ा दो। किसी ने कहा—पूने की ईंट से ईंट बजा दो। भारतीय पत्रों का साहस भी सराहनीय है कि वह सच कहने से न चूके; अँगरेजों को खूब तुर्की-बतुर्की जवाब दिया। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने कुछ देशभक्तों के रक्त से अपने क्रोध की आग ठंडी की। ऐंग्लो-इंडियन समुदाय ने घी के चिराग जलाए, खुशी मनाई और सरकार के अति कृतज्ञ हुए।

मिस्टर गोखले अभी इंग्लैण्ड में ही थे कि उनके मित्रों ने भारत (बंबई) सरकार के अत्याचार उत्पीड़न के दिल हिला-देनेवाले विवरण पूने से लिख-लिखकर भेजना आरंभ कर दिये। उनको आशा थी कि आप इंग्लैण्ड में सरकार की इन अनुचित कार्रवाइयों को मशहूर करके उनकी ओर पार्लियामेण्ट का

ध्यान खींच सकेंगे। अपने देशवासियों की यह दुर्दशा ऐसे देशभक्त के, जो देश पर तन-मन वार चुका हो—जोश को न उभारे, यह असंभव था। फिर भी आपने बड़े धैर्य और संयम से काम लिया। आप भली भाँति जानते थे कि सरकार पर यह इलजाम लगाने के लिए सबूत जुटाना असंभव हो जायगा और इन घटनाओं को प्रकट करने के पूर्व आपने बड़े सोच-विचार से काम लिया। पर इसी बीच रैंड और आयर्स्ट की हत्या का भयावना समाचार पहुँचा और उसने ब्रिटिश जनता में अजीब हलचल मचा दी। भारतीयों को दण्ड देने के उपाय सोचे जाने लगे। अफवाह उड़ी कि पूने के २५ प्रतिष्ठित और प्रभावशाली जन फाँसी पर लटका दिये जाएँगे। इसी प्रकार के और भी आतंकजनक समाचार, जो सर्वथा निराधार थे, प्रसिद्ध हुए।

अब आपसे जब्त न हो सका और आवश्यक हो गया कि आप भी अपनी आवाज उठाएँ। अत: आपने पत्रों के आधार पर जो पूने से आपके मित्रों ने लिखे थे, सरकार की अनुचित कठोरता और अत्याचार की जोरदार शब्दों में घोषणा की और यह साबित करने की कोशिश की कि यह प्रजा का दोष नहीं है कि वह सरकार से विमुख हो रही है, किन्तु सरकार की नासमझी है कि वह उसे दुःख देकर उत्तेजित कर रही है। आपने जो कुछ कहा, वह केवल उन्हीं के पत्रों आधार पर था। पर तत्कालीन भारत सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने लार्ड सैंडहर्स्ट के पत्र के आधार पर आपके बयान और इलजामों का खण्डन किया। अब आपके लिए इसके सिवा और कोई

उपाय न रहा कि या तो तथ्यों और प्रमाणों से अपने अभियोगों को सिद्ध करें या लज्जापूर्वक उनको वापस लें। अस्तु, आप भारत लौटे, पर इसी बीच बंबई सरकार ने पूने के मुखियों की गिरफ्तारी का हुक्म निकाल दिया था और जब आप अदन पहुँचे, तो उन्हीं खबर देनेवाले मित्रों के पत्र मिले, जिनमें प्रार्थना की गई थी कि हमारे नाम न प्रकट किए जाएँ। गिरफ्तारी के हुक्म ने उन लोगों को इतना भयभीत कर दिया था कि वह क़सम खाने को तैयार थे कि वह पत्र हमारे लिखे हुए न थे। मित्रों के इस तरह धोखा देने और कायरपन दिखाने से उस निर्मल, निष्पाप हृदय को, जो चिन्ता और व्यथा हुई, उसका अनुमान करना असंभव है।

कुछ दिन तक सबको भय था कि आप सदा के लिए सार्वजनिक जीवन से अलग हो जाने को विवश किए जाएँगे। आपको निश्चय हो गया कि उन अभियोगों को, जो मैंने सरकार पर लगाए हैं, साबित करना कठिन ही नहीं, स्पष्टतः असाध्य कार्य है, इसलिए अब शराफ़त और मर्दानगी का अनुरोध यही था कि आप भूल स्वीकार और खेदप्रकाश के द्वारा अपने उन शब्दों का शोधन-मार्जन करें, जिनसे सरकार के आचरण पर धब्बा लगता था। जब अपने दावे को साबित करने का कोई उपाय दिखाई न देता था, तब भी उस पर अड़े रहना आपकी न्यायशील दृष्टि में सरकार का अकारण अपमान करना था। अतः सब पहलुओं पर भलीभाँति विचार कर लेने के बाद आपने अपनी सुप्रसिद्ध क्षमा-याचना

प्रकाशित की। पर आपके देशवासी जो वस्तुस्थिति से पूर्ण परिचित न थे, तुरंत आपसे अप्रसन्न हो गए और आपके इस कार्य को अव्यवस्थित-चित्तता तथा भीरुता बताया। बड़ी निष्ठुरता से आप पर भर्त्सना के बाण बरसाए गए। यहाँ तक कि 'मिलीमार' और खुशामद के इलज़ाम भी लगाए गए।

यद्यपि उस समय भी भारत और इंग्लैंड दोनों ही देशों में ऐसे न्यायशील और दृढ़ विचार के पुरुष विद्यमान थे, जिन्होंने दिल खोलकर आपके इस सत्साहस की सराहना की। स्वर्गीय जस्टिस रानाडे ने, जो अपने सुयोग्य और सच्चे शिष्य की गतिविधि को पितृसुलभ स्नेह और उत्सुकता से देख रहे थे, आपके इस प्रकार हृदय शुद्धि का प्रमाण देने पर प्रसन्नता प्रकट की। पर धन्य है वह उदाराशयता और महानुभावता कि मित्रों और शुभचिन्तकों के दिल को टुकड़े-टुकड़े कर देने-वाले वचन और कर्म आपके उत्साह को तनिक भी घटा न सके। आपने इस फ़ारसी कहावत—'हरिक अज दोस्त मीरसद नेकोस्त' (मित्र से जो कुछ भी मिले, शुभ ही होगा।) का अनुसरण कर सारे निन्दा-अपमान को माथे चढ़ा लिया। ऐसी स्थिति में एक बनावटी देशभक्त अपने देशवासियों को कृतघ्नता का दोषी ठहराता, देश की नाक़द्री और बेवफ़ाई का रोना रोता और शायद सदा के लिए सार्वजनिक जीवन से मुँह फेर लेता। पर आप उन देशभक्तों में नहीं थे। जन्मभूमि का प्रेम और भाइयों की भलाई का भाव आपकी प्रकृति बन गया था। अपनी सहज अध्यवसायशीलता और

एकाग्रता से फिर स्वदेश की सेवा में जुट गए और प्रसन्नता की बात है कि वह दिन जल्दी ही आया कि भ्रम में पड़े हुए आपके विरोधी अपने आक्षेपों पर लज्जित हुए ।

अभी पत्रकारों का क्रोध ठंडा न हुआ था कि बंबई में प्लेग से त्राहि-त्राहि मच गई । लोग लड़के-वाले, घरवार छोड़-छोड़कर भागने लगे । आवश्यक जान पड़ा कि उत्साही देशभक्त रोगियों की चिकित्सा और सेवा के लिए अपनी जान जोखिम में डालें । जिस आदमी ने सबसे पहले इस भयावनी घाटी में क़दम रखा, वह श्री गोखले ही थे । जिस तत्परता, तन्मयता और विनम्रता के साथ आपने प्लेग प्रतिबन्धक अधिकारियों का हाथ बँटाया, वह आपका ही साहस था । सारा देश आपकी प्रशंसा से गूंजने लगा । लार्ड सैंडर्स्ट भी, जिन्होंने पहले कितनी ही बार आप पर चोटें की थीं, इस समय आपकी देशभक्ति और जनता के प्रति सच्ची सहानुभूति के क़ायल हो गए और कौंसिल में आपको धन्यवाद देकर अपना गौरव बढ़ाया।

लोकहित में आपका अथक प्रयास देखकर देश फिर आपका भक्त बन गया । दक्षिण के लोगों ने सर्वसम्मति से आपको बंबई कौंसिल की सदस्यता पर प्रतिष्ठित किया । यहाँ आपने ऐसी लगन और एकनिष्ठता से देश की सेवा की कि सबके हृदय में आपके लिए आदर-सम्मान उत्पन्न हो गया । 'बांबे लैण्ड रेवेन्यू' (मालगुज़ारी) बिल के सम्बन्ध में जो जोरदार बहसें हुई, उनमें आपने प्रमुख भाग लिया और सरकार को विश्वास दिला दिया कि गैरसरकारी सदस्य सरकार के

कार्यों की टीका विरोध की नीयत से नहीं करते, किन्तु सद्भावमय सहयोग की नीयत से करते हैं। विदेशी सरकारों में सदा दोष रहता है कि उनकी हरेक तजवीज के दो पहलू हुआ करते हैं। सरकार अपने पहलू के हानि-लाभ पर तो विचर कर लेती है, पर गरीब प्रजा के पक्ष की सर्वथा उपेक्षा कर जाती है। आपने सदा सच्चे मन से इसका यत्न किया कि सरकार के सामने आनेवाले प्रत्येक प्रश्न और योजना की प्रजा की दृष्टि से समीक्षा करें और सरकार को उसके अवश्यंभावी परिणाम सुझाएँ, जिसमें वह प्रजा के विचारों और आवश्यकताओं को जानकर उसकी भलाई की चिन्ता और उपाय करती रहे।

इन महत्वपूर्ण सेवाओं के कारण आपके प्रशंसकों और भक्तों की परिधि और भी विस्तृत हो गई और आप बंबई की ओर से वाइसराय की कौंसिल के ग़ैरसरकारी सदस्य चुने गए। सार्वजनिक जीवन से दिलचस्पी रखनेवाला हरएक आदमी जानता है कि वहाँ आपने अपने कर्तव्यों का पालन कितने परिश्रम, सचाई, और जागरूकता के साथ किया। आपकी वक्तृताएँ, खोज, बहुज्ञता, ओजस्विता और साहसभरी भाषा की दृष्टि से अपना जवाब नहीं रखतीं। यूनिवर्सिटी बिल और आफ़ीशल सीक्रेट (सरकारी रहस्य गोपन) बिल के विरोध में आपकी ललकारें अभी तक हमारे कानों में गूँज रही हैं और आशा है कि आपकी ये वक्तृताएँ सदा अपने ढंग की सर्वोत्तम वक्तृताएँ मानी जाएँगी। आपके गर्जन से लार्ड कर्जन

जैसे शेर की भी बोलती बन्द हो जाती थी। इसमें सन्देह नहीं कि बड़ी कौंसिल में आप ही एक योद्धा थे, जिससे लार्ड महोदय आँखें बचाते फिरते थे। आपकी अलोचनाओं पर अक्सर विरोध की नीयत का सन्देह किया गया; पर उसका कारण केवल यह है कि लार्ड कर्जन जैसा अभिमानी, निरंकुश व्यक्ति अपनी कार्रवाईयों का भंडाफोड़ होना सहन नहीं कर सकता था, इसलिए आपकी नीयत में बुराई दिखाकर अपने दिल का गुबार निकाल लेता था।

आप जैसे विद्वान् और बहुज्ञ व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं थी कि विदेशी सरकार सदा जनता की सहानुभूति से वंचित और गलतफ़हमियों का शिकार बनी रहती है। उसको एक-एक क़दम खूब ऊँचा-नीचा देखकर धरना होता है। इसी दृष्टि से आपने कभी सरकार को जनसाधारण की निगाह में गिराने या दोषी बनाने की चेष्टा नहीं की; बल्कि जब कभी मौक़ा मिला, बड़े गर्व से उन बड़े-बड़े लाभों की चर्चा की जो अँगरेजी राज्य की बदौलत हमें प्राप्त हैं। अँगरेजों की प्रामाणिकता, शुद्ध व्यवहार और नेकनीयती के आप सदा प्रशंसक थे; पर इसके साथ ही उन दोष-त्रुटियों से भी अनभिज्ञ नहीं थे, जो अँगरेजी शासन में मौजूद हैं और जिन्होंने उसको बदनाम कर रखा है। आपका विश्वास था कि यह दोष बदनीयती के कारण ही नहीं है, किन्तु गलत और अनुपयुक्त सिद्धान्तों को काम में लाने के कारण है और उसका कोई उपाय हो सकता है, तो यही कि भारतवासियों को शिक्षा-

सपादन की प्रगति के साथ-साथ राजकाज में भी अधिकाधिक भाग लेने का अवसर दिया जाए। उनकी आवाज़ें अधिक सहानुभूति के साथ सुनी जाएँ, उनके गुणों तथा योग्यता का आदर अधिक उदारता के साथ किया जाए। उनकी अपनी जिम्मेदारी आप उठाने की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ायी जाए।

निस्संदेह आपका आदर्श बहुत ऊँचा है, पर यही आदर्श सदा से न केवल उच्चाकांक्षी भारतीयों का रहा है; किन्तु उन उदारमाना न्यायप्रिय अँगरेजों का भी रहा है जो भूतकाल में भारतीयों के भाग्य के मालिक थे। जान ब्राइट, ब्रैडला, मेकाले और फास्ट जैसे मानव हितैषी, उदाराशय पुरुषों के सामने भी यही आदर्श था। लार्ड बेंटिक और लार्ड रिपन जैसे महानुभावों ने भी इसी आदर्श के अनुसरण का यत्न किया। और राजा राममोहन राय, जस्टिस रानाडे और दादा भाई नौरोजी जैसे राष्ट्र के पथप्रदर्शक भी इसी आदर्श का पुकार-पुकारकर समर्थन करते गए। मिस्टर गोखले भी इसी आदर्श के उत्साही समर्थकों में थे और जब तक वह शुभ दिन न आये, जब कि सरकार इस आदर्श का अनुसरण करे, प्रत्येक उच्चाकांक्षी देशहितैषी का प्रथम कर्तव्य यही होगा कि वह इस आदर्श को कार्य रूप देने के यत्न में संलग्न रहे।

मिस्टर गोखले को जो लोकप्रियता और देश के नेताओं में जो प्रमुख स्थान प्राप्त था, उस पर प्रत्येक व्यक्ति को गर्व हो सकता है। आपने अपने को राष्ट्र पर उत्सर्ग कर दिया था। आपके हृदय में कोई लौकिक कामना थी, तो यही कि भारत

भूमण्डल के उन्नत राष्ट्रों में सम्मान का पद प्राप्त करे और ग़रीबी के गहरे गढ़े से निकलकर समृद्धि के सतखंभे पर अपनी पताका फहराए। आप दिन-रात देश की भलाई के उपाय सोचने में ही डूबे रहते थे। निस्संदेह आप देश के नाम पर बिक गए थे। और यद्यपि सरकार ने आपकी निःस्वार्थ देश-भक्ति, लोकहित की सच्ची कामना तथा न्यायशीलता का आदर किया और आपको 'सतारे हिंद' की उच्च उपाधि से सम्मानित किया, पर आप इतने विनम्र और शालीन थे कि इस आदर सम्मान को अपनी योग्यता से अधिक मानते थे। देशहित-साधन की धुन में आपको मान-प्रतिष्ठा की तनिक भी इच्छा न थी।

मिस्टर दादाभाई नौरोजी में आपको भरपूर श्रद्धा थी। बंबई में उनकी सालगिरह का जलसा हुआ, तो उनके गुणगान में आपने बड़ी ओजस्विनी वक्तृता की, जिसके अन्तिम शब्द सोने के पानी से लिखे जाने योग्य हैं—

'मेरे नौजवान दोस्तो! सोचो कि मिस्टर दादाभाई का जीवन कैसा उज्जवल आदर्श है, जो ईश्वर ने तुम्हारे लिए प्रस्तुत किया है। जिस उत्साह से तुमने श्रद्धांजलि अर्पित की, उसे देखकर हृदय को आनन्द होता है। पर हम इस जलसे को कदापि सफल न समझेंगे, अगर तुम्हारा उभरा हुआ उत्साह इतने ही से संतुष्ट हो जाए। तुम्हारा फ़र्ज़ है कि उस जीवन से शिक्षा ग्रहण करो और अपना भीतर-बाहर उसी नमूने पर सँवारने की कोशिश करो, जिसमें

किसी दिन यह गुण तुम्हारी प्रकृति के भी अंग बन जाएँ। सज्जनो, सब कुछ जानने और देखनेवाला परमात्मा प्रत्येक देश में समय-समय पर ऐसी आत्माएँ भेजा करता है, जो मार्गभ्रष्टों को रास्ता दिखाएँ और जिनके पदचिह्न का अनुसरण कर भूले-भटके बटोही अपने गन्तव्य स्थान को पहुँचें। निस्सन्देह दादा भाई नौरोजी इस अभागे देश की आँखों के तारे हैं। मुझसे कोई पूछे तो मैं ज़रूर कहूँगा कि आप जैसा ऊँचे विचार का देशभक्त दुनिया के किसी देश में मुश्किल से पैदा हुआ होगा। हममें से संभवतः कोई भी ऐसा न होगा जो उस ऊँचाई तक पहुँच सके। ऐसे बहुत कम होंगे, जिन्होंने, चित्त की इतनी दृढ़ता और ऐसा ऊँचा दिमाग़ पाया हो। पर हम सभी आपके समान जाति-धर्म का भेदभाव न रखकर अपने देश को प्यार कर सकते हैं। हम सभी उच्च लक्ष्य के लिए, जिस पर आपने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है, कुछ न कुछ यत्न कर सकते हैं। आपके जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा यही है कि देश और जाति की सेवा करो। अगर हमारे नौजवान भाई इस शिक्षा से थोड़ा बहुत भी लाभ उठाएँगे, तो देश का भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल होगा, चाहे कभी-कभी समाँ अँधेरा ही क्यों न हो जाय।'

मिस्टर गोखले को दिल से लगी थी कि श्री दादाभाई नौरोजी अपनी सारी जिन्दगी की कोशिश से जिस कल्याणकारी कार्य का आरंभ कर पाए, वह देशवासियों की लापरवाही और कमहिम्मती से नष्ट न हो जाए। इसका सर्वोत्तम

उपाय आपको यही दिखाई दिया कि उनके पदचिह्नों का अनुसरण किया जाए। यद्यपि इतने दिनों के अनुभव के बाद भारतवासियों को अब मालूम हो गया है कि अपने कष्टों की कहानी इंग्लैंडवालों को सुनाना बेकार है, और हमारा उद्धार होगा तो अपनी हिम्मत और पुरुषार्थ से ही होगा; पर आपका विश्वास था कि भारत के विषय में ब्रिटिश जनता की वर्तमान उपेक्षा का कारण केवल उसका अज्ञान है। उसकी सहज न्यायप्रियता अब भी लुप्त नहीं हुई है। आपको पूरा भरोसा था कि भारत की स्थिति से परिचित हो जाने के बाद वह अवश्य उसकी ओर ध्यान देगी। हमारे लोकनायकों का सदा यही विचार रहा है। अतः समय-समय पर कांग्रेस के प्रतिनिधियों को विलायत भेजने के यत्न होते रहे हैं। पहली बार जो प्रतिनिधि गए थे, उनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और स्वर्गीय मिस्टर मनमोहन घोष जैसे धुरन्धर वक्ता थे। उनका यत्न बहुत कुछ फलजनक सिद्ध हुआ। १९०६ ई० में फिर यही आन्दोलन उठा और निश्चय हुआ कि हर सूबे से एक-एक प्रतिनिधि इंग्लैण्ड भेजा जाए। इस गुरुतर कार्य के लिए सारे बम्बई प्रान्त की अनुरोध भरी दृष्टि मिस्टर गोखले की ओर उठी, और उनके कठिन कार्यसाधन में आनन्द पानेवाले स्वभाव ने बड़े उत्साह से इस भार को अपने ऊपर लिया, जिसे उठाने के लिए आपसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति मिल नहीं सकता था।

इंग्लैण्ड में विचारवान् व्यक्तियों ने आपका बड़े प्रेम और

उत्साह से स्वागत किया। पर चूंकि इसी बीच बंग भंग और स्वदेशी आन्दोलन की चर्चा भी उठ गई थी, इसलिए भारतवासियों को आशंका थी कि मैंचेस्टर और लंकाशायर वाले, जो स्वदेशी आन्दोलन के कारण रुष्ट हो रहे हैं, आपकी उपेक्षा न करें। सोचा जाता था कि उन स्थानों में जाते हुए आप खुद भी हिचकेंगे। पर आपकी गहरी निगाह ने भाँप लिया कि उससे दूर रहना और भी विलगाव का कारण होगा। जब दवा की आशा उनसे की जाती है, तो दर्द भी उन्हीं से कहना चाहिए। अतः आपने उन नगरों में जाकर ऐसे नए, प्रभावशाली और ओजस्वी भाषण किए कि सुननेवालों के विचार पलट दिये। स्वदेशी आन्दोलन का आपने ज़ोरों से समर्थन किया, जो आपके नैतिक बल का प्रमाण है।

आपने फ़रमाया कि बंगाल में ब्रिटिश माल के तिरस्कार का कारण यह नहीं है कि बंगालियों के विचार विप्लववादी हो गए हैं। इतिहास और अनुभव इसके गवाह हैं कि जैसी राजभक्त और आज्ञापालक जाति भारतीयों की है, वैसी दुनिया की और कोई जाति नहीं हो सकती। जो जाति डेढ़ सौ साल से तनिक भी गरदन न उठाए उसका यकायक बिगड़ उठना अनहोनी बात है, जब तक कि उसके दिल को कोई असह्य चोट न पहुँचे। इसमें संदेह नहीं कि लार्ड कर्जन की कार्रवाइयाँ, और खासकर उनके आखिरी काम ने बंगालियों को बहुत दुखी और क्षुब्ध कर दिया है। फिर भी अभी तक कोई घटना नहीं हुई है, जो किसी सभ्य सरकार के लिए हस्तक्षेप

या विरोध का समुचित कारण हो सके। शान्ति और व्यवस्था में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। इस स्थिति में दुनिया की कोई और सभ्य जाति, ईश्वर जाने, क्या-क्या उपद्रव मचाती। कोई निष्पक्ष व्यक्ति बंगालवालों के धैर्य और संयम की सराहना किए बिना नहीं रह सकता। यह सोचना निरा भ्रम है कि स्वदेशी आंदोलनों पर इसलिए जोर दिया जा रहा है कि अँगरेजों के प्रति उनके मन में शत्रुता का भाव है। बहुत-से ऐंग्लो इंडियन पत्र लोगों को बहका रहे हैं। इस ग़लतफ़हमी में फँसे हुए लोगों को मालूम हो कि बंगालवालों ने यह तरीका महज इसलिए इख़्तिहार किया है कि अपनी चीख-पुकार और फ़रियाद ब्रिटिश जनता के कानों तक पहुँचाएँ और उनकी सहानुभूति प्राप्त करें। जो इस तरीक़े को बुरा समझता हो, वह बतलाए कि हिन्दुस्तानियों के हाथों में और दूसरा कौन सा उपाय है? क्या भारत सचिव के दरवाजे पर जाकर 'दाता की जय' मनाने से काम चलेगा या पार्लियामेंट में एक दो प्रश्न कर लेने से उद्देश्य सिद्ध हो जायगा? अब अँगरेजों की न्यायशीलता के लिए यही उचित है कि वह भारत सचिव से आग्रह अनुरोध करें। ग़रीब हिन्दुस्तान पर झल्लाना, जो स्वयं ही दलित-अपमानित हो रहा है। मर्दानगी की बात नहीं है।

प्रत्येक अवसर पर आपने ऐसे ही जोरदार भाषण किए। कटु, अप्रिय सत्य कहने में आपको कभी आगा-पीछा नहीं होता था और इंग्लैण्डवासियों की उदारता को भी धन्य है कि

उनसे ही जाति के अन्याय-अत्याचार की कहानी सुनने के लिए हजारों की संख्या में जमा होते थे। अतः इन नग्न सत्यों से उनके राष्ट्रीय अभिमान को चोट लगती थी, फिर भी विभिन्न संस्था-समितियों से उनके पास भारत के विषय में कुछ कहने के लिए इतने निमंत्रण आते थे कि कठोर परिश्रम के आदी होने पर भी सबको स्वीकार न कर सकते थे। भाषण के बीच में श्रोतृसमूह ऐसे उत्साह से साधुवाद देता था और आदि से अन्त तक ऐसी सहानुभूति का परिचय देता था कि आपको स्वीकार करना पड़ता था कि अंगरेजों की न्यायवृत्ति अभी तक कुण्ठित नहीं हुई है। डेढ़ महीने के अल्पकाल में आपने सारे इंग्लैंड का दौरा किया और कितने ही भाषण किए; पर जिस जाति ने मुद्दतों से हिन्दुस्तान को अपनी मिलकियत समझ रखा हो, उस पर ऐसे भाषणों का क्या टिकाऊ असर पड़ सकता था? सम्मानित और सदाशय अँगरेज सज्जनों ने सहानुभूति प्रकट की और बस, शासन-यंत्र उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा।

गेरीबाल्डी

ज़ोज़फ गेरीबाल्डी, जिसने इटली को गुलामी के गढ़े से निकाला, इतिहास के उन इने-गिने महापुरुषों में हैं, जो अपनी निस्स्वार्थ और साहस भरी देशभक्ति के कारण अखिल विश्व-उपकारक माने गए हैं। वह स्वाधीनता का सच्चा पुजारी था, और जब तक जीता रहा, केवल अपने देश और जाति को ही उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के यत्न में नहीं लगा, अन्य दलित-पीड़ित जातियों को भी अवनति के गर्त से निकालने की कोशिश करता रहा। गेरीबाल्डी का सा उदार और मानव सहानुभूति से भरा हुआ हृदय रखनेवाले व्यक्ति इतिहास में बिरले ही दिखाई देते हैं। वह झोंपड़े में पैदा हुआ, अपनी सच्ची देशभक्ति और देशसेवा के उत्साह की बदौलत सारे राष्ट्र का प्यारा बना और आज सारा सभ्य संसार एक स्वर से उसका गुणगान कर रहा है।

इसमें संदेह नहीं कि उसमें कुछ कमजोरियाँ थीं—ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो मानव स्वभाव की दोष-त्रुटियों से सर्वथा मुक्त हो? पर इन कमजोरियों से उसके यश और कीर्ति में तनिक भी कमी नहीं होने पाई। उसकी नेकनीयती और निस्स्वार्थता पर कभी किसी को संदेह करने का साहस नहीं हुआ। वह चाहता तो उस लोकप्रियता की बदौलत, जो उसे प्राप्त थी, धन-वैभव की चोटी पर ही न पहुँच जाता, राजदण्ड

अपनी ही जाति के अन्याय-अत्याचार की कहानी सुनने के लिए हजारों की संख्या में जमा होते थे। अतः इन नग्न सत्यों से उनके राष्ट्रीय अभिमान को चोट लगती थी, फिर भी विभिन्न सभा-समितियों से आपके पास भारत के विषय में कुछ कहने के लिए इतने निमंत्रण आते थे कि कठोर परिश्रम के आदी होने पर भी सबको स्वीकार न कर सकते थे। भाषण के बीच में श्रोतृसमूह ऐसे उत्साह से साधुवाद देता था और आदि से अन्त तक ऐसी सहानुभूति का परिचय देता था कि आपको स्वीकार करना पड़ता था कि अँगरेज़ों की न्यायवृत्ति अभी तक कुण्ठित नहीं हुई है। डेढ़ महीने के अल्पकाल में आपने सारे इंग्लैंड का दौरा किया और कितने ही भाषण किए; पर जिस जाति ने मुद्दतों से हिन्दुस्तान को अपनी मिलकियत समझ रखा हो, उस पर ऐसे भाषणों का क्या टिकाऊ असर पड़ सकता था? सम्मानित और सदाशय अँगरेज सज्जनों ने सहानुभूति प्रकट की और बस, शासन-यंत्र उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा

मातृभूमि! वह लोग अन्याय करते हैं जो कहते हैं कि हिन्दू जाति मृत, निष्प्राण हो गई है। जब तक दादाभाई, रानडे, और गोखले जैसे बच्चे तेरी गोद में खेलेंगे, हिंदू जाति कभी मुर्दा नहीं कही जा सकती। कौन कह सकता है कि अगर इन महापुरुषों का जन्म किसी स्वाधीन देश में हुआ होता, तो वह ग्लेडस्टन, बिस्मार्क या रूजवेल्ट न होते!

●

गेरीबाल्डी

जोज़फ गेरीबाल्डी, जिसने इटली को गुलामी के गढ़े से निकाला, इतिहास के उन इने-गिने महापुरुषों में हैं, जो अपनी निस्स्वार्थ और साहस भरी देशभक्ति के कारण अखिल विश्व-उपकारक माने गए हैं। वह स्वाधीनता का सच्चा पुजारी था, और जब तक जीता रहा, केवल अपने देश और जाति को ही उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के यत्न में नहीं लगा, अन्य दलित-पीड़ित जातियों को भी अवनति के गर्त से निकालने की कोशिश करता रहा। गेरीबाल्डी का सा उदार और मानव सहानुभूति से भरा हुआ हृदय रखनेवाले व्यक्ति इतिहास में बिरले ही दिखाई देते हैं। वह झोंपड़े में पैदा हुआ, अपनी सच्ची देशभक्ति और देशसेवा के उत्साह की बदौलत सारे राष्ट्र का प्यारा बना और आज सारा सभ्य संसार एक स्वर से उसका गुणगान कर रहा है।

इसमें संदेह नहीं कि उसमें कुछ कमजोरियाँ थीं—ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो मानव स्वभाव की दोष-त्रुटियों से सर्वथा मुक्त हो? पर इन कमजोरियों से उसके यश और कीर्ति में तनिक भी कमी नहीं होने पाई। उसकी नेकनीयती और निस्स्वार्थता पर कभी किसी को संदेह करने का साहस नहीं हुआ। वह चाहता तो उस लोकप्रियता की बदौलत, जो उसे प्राप्त थी, धन-वैभव की चोटी पर ही न पहुँच जाता, राजदण्ड

और राजमुकुट भी धारण कर लेता। पर उसका अन्तःकरण ऐसी स्वार्थमय कामनाओं से निर्लिप्त था। उसका यत्न सफल हो गया। इटली ने पराधीनता के जुए को उतार फेंका, तो वह चुपचाप अपने घर लौट आया और दुनिया के झगड़ों से अलग होकर शेष जीवन खेतीबारी में काट दिया। निस्संदेह, गेरीबाल्डी का सा शौर्य और साहस रखनेवाले और भी लोग दुनिया में हो गए हैं; पर जिस दुर्लभ गुण ने इटालियन जाति को सदा के लिए उसका ऋणी बना दिया है, वह है उसकी बेदाग़ नेकनीयती और निर्मल, निष्काम देशभक्ति।

गेरीबाल्डी का जन्म २२ जुलाई, १८०७ ई० को नाइस नामक नगर में हुआ। उसका बाप एक छोटे दरजी का नाविक था, जो दिनों के फेर के कारण ग़रीबी की हालत में दिन काट रहा था। हाँ, उसकी माँ बड़ी साध्वी, सुशीला स्त्री थी। ग़रीबी वह बुरी बला है कि मनुष्य के बहुत से गुणों पर परदा डाल देती है पर इस अर्थकष्ट में भी यह महिला बड़े सन्तोष और शान्ति के साथ अपना निर्वाह करती थी। अच्छी माताओं की कोख में सदा ही सपूत जन्मे हैं। दुनिया के महान् पुरुषों में से अधिकतर ऐसे हैं, जिनके हृदयों में उनकी माताओं के गुण ने सद्गुणों, सदुद्देश्यों और ऊँचे आदर्शों के बीज बोए। गेरीबाल्डी भी अपनी माँ के सद्गुणों से बहुत प्रभावित हुआ। वह खुद लिखता है—

'वह विशुद्ध प्रेम, जो मुझे अपने देश के साथ है और जिसने मुझे अपने अभागे देशवासियों के दुःख-सुख का

साथी बना दिया है, उसका बीज उस समय उगा था, जब मैं अपनी ग़रीब माँ को ग़रीबों के साथ हमदर्दी दिखाते और दुर्दशाग्रस्तों पर करुणा करते हुए देखता था। मैं असत् की पूजा करनेवाला अंधविश्वासी नहीं हूँ, पर मैं स्वीकार करता हूँ कि कठिन से कठिन विपत्ति के समय जब समुद्र मेरे जहाज को जलसमाधि देने पर तुला होता और उसे काग़ज़ की तरह उछालता होता या जब हवा की सनसनाहट की तरह बंदूकों की गोलियाँ मेरे कान के पास से सनसनाती हुई निकल जाती थीं और मेरे सिर पर गोले ओले की तरह बरसते होते थे, मैं अपनी स्नेहमयी माता को अपने बेटे के लिए भगवान् से विनती करते हुए देखता। मेरा वह साहस और वीरता, जिस पर बहुतों को अचरज होता है, इस अटल विश्वास का ही फल है कि जब एक पुण्यशीला देवी-स्वरूप महिला मेरे लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रही है, तब मुझ पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती।'

बचपन से ही गेरीबाल्डी की सहज निर्भीकता, स्वातंत्र्य-प्रियता और दीन-दुखियों के साथ सहानुभूति का परिचय मिलने लगा। आठ साल का भी न होने पाया था कि एक स्त्री को डूबते देखकर मर्दानगी के साथ वह नदी में कूद पड़ा और उसे काल के गाल से निकाल लाया। इसके कुछ साल बाद उसके कुछ मित्र नौका-विहार कर रहे थे कि भयानक तूफान आ गया और नाव के जल-निमग्न हो जाने की आशंका होने लगी।

गेरीवाल्डी किनारे से यह अवस्था देख रहा था, तुरत हिम्मत बाँधकर पानी में कूद पड़ा और नौका को सकुशल किनारे लाया। उसके साहस और मानव-सहानुभूति की सैकड़ों कथाएँ लोगों की ज़बान पर हैं। यही गुण थे, जिन्होंने बाद में उसे राष्ट्र का कर्णधार और उसके गर्व की वस्तु बना दिया।

माँ-बाप यद्यपि निर्धन थे, पर बेटे की बुद्धि की तीक्ष्णता को देखकर उसे अच्छी शिक्षा दिलवाया। उनकी इच्छा थी कि वह वकालत का पेशा करे। पर एक ऐसे नवयुवक को, जिस पर सैनिक और नाविक जीवन की धुन सवार थी, मुकदमों के सबूत ढूँढ़ने और पुरानी, दीमकों की चाटी नज़ीरें तलाश करने में तनिक भी दिलचस्पी नहीं हो सकती थी। इसलिए उसने सार्डीनिया की जलसेना में नौकरी कर ली और कई साल तक उस चित्त की दृढ़ता और कष्टसहिष्णुता का अभ्यास करता रहा, जिसने आगे चलकर उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में बड़ी सहायता की।

इटली की दशा उन दिनों बहुत बिगड़ रही थी। उत्तरी भाग आस्ट्रिया के अत्याचारों से चीख-चिल्ला रहा था। दक्षिण में नेपुल्स के उलीउनों की धूम थी, मध्य देश में पोप ने अंधेर मचा रखा था और पच्छिम में पेड्मांट के जोर-जुलम का चक्र चल रहा था। पर चारों ओर राष्ट्रीय जागृति के चिह्न प्रकट हो रहे थे और युवकों के हृदय में अपने देश को विदेशियों के उत्पीड़नों से मुक्त करने, इटली को एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में परिणत करने और दुनिया के सम्मानित राष्ट्रों की श्रेणी

में स्थान दिलाने की उमंगें उठ रही थीं। यह उत्साह केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित न था, साधारण जनता में भी आजादी का वह जोश पैदा हो चला था, जिसने फ्रांस के प्रभुत्व का तानावाना बिखेर दिया। देशप्रेमियों ने 'यंग इटाली' (युवा इटली) नाम की एक संस्था स्थापित कर रखी थी, जिसका प्राण मेजिनी जैसा सच्चा देशभक्त था। अतः उद्देश्य सिद्धि के अनेक साधनों और उपायों पर विचार करने के बाद, १८३२ ई० में यह निश्चय किया गया कि देश में राज्यों के विरुद्ध विप्लव कर दिया जाय और उसका आरंभ पेडमांट से हो।

गेरीबाल्डी को यह समाचार सुनकर कब मन पर अधिकार रह सकता था? तुरत नौकरी से इस्तीफ़ा देकर मेज़िनी की मदद के लिए जा पहुँचा। पर संभवतः मसाला पक्का न था। भण्डा फूट गया और दल छिन्न-भिन्न हो गया। मेज़िनी गिरफ्तार हो गया, पर गेरीबाल्डी किसी तरह भाग निकला, पर उसकी बेचैन तबीयत को चैन कहाँ? सदा छिपे-छिपे पत्र और संदेशवाहकों के द्वारा आग भड़काता रहता था। दो बरस बाद फिर एक दल तैयार किया। पर अबकी खुद गिरफ्तार हो गया। सामयिक शासन ने प्राणदण्ड का अधिकारी ठहराया। अपने सत्संकल्पों के लिए शहीद होने का समय आ ही पहुँचा था कि प्राणरक्षा का उपाय निकल आया। भागकर फ्रांस पहुँचा और ट्यूनिस होता हुआ दक्षिण अमेरिका में दाखिल हो गया। वहाँ उन दिनों कई जातियाँ स्वाधीनता के लिए अपने ऊपर शासन करनेवाली शक्तियों से लड़ने को तैयार थीं।

गेरीवाल्डी ने बारी-बारी से उनकी सहायता की। छोटी-छोटी सेनाएँ लेकर बरसों तक जंगलों पहाड़ों में लड़ता-भिड़ता रहा। उसकी पति-परायण पत्नी अनीता इस सारे क्लेश-कष्ट में उसकी साथी थी। इस समय लड़ने-भिड़ने में वह इतना व्यस्त रहता था कि चार बरस तक एक दिन भी आराम से बिस्तर पर लेटना न नसीब हुआ। जब नींद दबाती, तो घोड़े की पीठ पर सिर नीचा कर लेता। अधिक अवकाश हुआ, तो वहीं ज़मीन पर लम्बा हो जाता। इससे भी सराहनीय अनीता का धैर्य और दृढ़ता है, जो पति की खातिर यह सारी विपत्तियाँ और क्लेश झेलती और शिकायत में मुंह से एक शब्द न निकालती।

यद्यपि 'यंग इटाली' (इटालियन युवक दल) और उसके अधिकतर सदस्य, जिनमें मेज़िनी भी शामिल था, निर्वासन के कष्ट भोग रहे थे; पर उनके विचार गुप्त परचों आदि के द्वारा जनसाधारण के हृदयों में स्वाधीनता का प्रेम जगाते थे। कई बार साधारण रूप में प्रकट होने के बाद अंत में १८४८ ई० में यह जोश भड़क उठा। कई नगरों में जनता ने आज़ादी के झण्डे ऊँचे कर दिए। मिलान और जिनेवा में आस्ट्रिया की सेना ने हार भी खायी। पेडमांट के शासक अलबर्ट ने पहले तो आस्ट्रिया के विरुद्ध किए गए इस विप्लव को बड़ी कड़ाई से दबा देने की कोशिश की; पर जब उसमें सफल न हुआ और जनता का जोश बढ़ता ही गया, तो इस डर से कि कहीं उसकी प्रजा भी उपद्रव पर उद्यत न हो जाए, छिपे-छिपे

बागियों की मदद करने लगा। पोप ने भी इसी में भलाई देखी कि प्रजा का विरोध न किया जाए।

इस विप्लव के दिल बढ़ानेवाले समाचार समुद्र को पार करके अमेरिका पहुँचे, तो उस परदेश में पड़े हुए देशभक्त के हृदय में फिर देशसेवा की उमंगें लहरें लेने लगीं। उसके साथ उस समय ८३ आदमियों से अधिक न थे। इसी छोटे दल को लेकर वह स्वदेश के स्वाधीनता-संग्राम में जूझने को रवाना हो गया। प्रस्थान के समय उन ८३ आदमियों में से भी बहुतों की हिम्मत छूट गई और वे सोचने लगे कि कहाँ हम और कहाँ आस्ट्रिया और अन्य यूरोपीय राज्यों की संयुक्त शक्ति। अन्त में केवल ५६ आदमी बच रहे। गेरीबाल्डी का हौसला दबना जानता ही न था। उसका दृढ़ संकल्प तनिक भी विचलित न हुआ। उन्हीं ५६ आदमियों और थोड़ी सी बन्दूकों के साथ वह एक जहाज पर इटली के लिए रवाना हो गया। यहाँ जिस उत्साह और उल्लास से उसका स्वागत किया गया, वह इस बात का प्रमाण था कि जाति में नवजीवन का संचार और सच्चे स्वाधीनता-प्रेम का प्रसार हो गया है।

गेरीबाल्डी ने पहले पोप के दरबार में नौकरी की दरख्वास्त दी। उसने पोप के बारे में जो अफ़वाहें सुनी थीं, उनसे उसको विश्वास था कि वह अवश्य मेरी सेवा स्वीकार करेगा और मुझे अस्ट्रियावालों का सिर कुचलने का अच्छा मौका हाथ आएगा। पर पोप के सदुद्देश्यों की पोल बहुत जल्दी खुल गई। उसने गेरीबाल्डी को नौकर रखने से ही इन-

कार नहीं किया, कुछ ऐसी कारंवाइयां भी कीं, जिनसे प्रकट हो गया कि वह भी 'चोर-चोर मौसेरे भाई' ही हैं। यहाँ से निराश होकर गेरीवाल्डी ने पेडमांट के बादशाह के सामने अपनी तलवार पेश की। यह वही हज़रत थे, जिन्होंने पहले गेरीबाल्डी को वगावत की साजिश करने के अपराध में देश-निकाले का दण्ड दिया था। पर अब जनता के साथ विरोध करने में कुशल न देख, खुले तौर पर आस्ट्रिया का विरोध आरंभ कर दिया था। पर संभवतः यह अधिकारियों को धोखे में डालने के लिए ही था। गेरीबाल्डी को यहाँ से भी कोरा जवाब मिला। इस बीच जन-विप्लव से भयभीत होकर पोप ने गेरुवा बाना उतार फेंका और रोम से भाग निकला।

पोप के पलायन की खबर ज्यों ही मशहूर हुई, निर्वासित देशभक्त अपने-अपने गुप्त स्थानों से निकलकर रोम की ओर दौड़े। और वहाँ एक पार्लियामेण्ट स्थापित हुई, जो चन्दरोजा होने के कारण 'अस्थायी सरकार' कहलाती है। यह दिन इटली के इतिहास में बड़ा शुभ था। जनता खुशी से फूली न समाती थी। इस सरकार ने गेरीबाल्डी की सेवा सहर्ष स्वीकार की और वह स्वयसेवकों का एक दल लेकर सीधा उत्तर की ओर चला। यहाँ अनेक अवसरों पर उसने साहस और वीरता के जो काम किए, उन पर वीर से वीर सैनिक को गर्व हो सकता है। सतत सफलता से उसका यश और सम्मान दिन-दिन बढ़ता गया। उसकी आदत शत्रु की शक्ति का अन्दाज़ा करने की न थी, और अपने साथियों

की संख्या का भी वह कुछ ख्याल न करता था। उसकी राजनीति यह थी कि जहाँ दुश्मन को सामने देखा और टूट पड़ा। इसमें वह तनिक भी आगा-पीछा न करता। उसके आक्रमण में कुछ ऐसा वल होता था कि प्रायः सभी अवसरों पर उसकी यह युक्ति सफल हो जाती थी। अपने से दसगुनी सेना को, जो हरबे-हथियार से लैस होती थी, कितनी ही वार उसने अपने नौसिखिए, अनुभवहीन रँगरूटों से हरा दिया। इसका कारण यह था कि उसके दल का एक-एक आदमी राष्ट्रीयता के नशे में चूर होता था।

मिलान की जनता ने आस्ट्रिया का ज़ोरों से विरोध किया था, इसलिए वह खास तौर से आस्ट्रिया के कोप का भाजन बना हुआ था। गेरीवाल्डी उसकी रक्षा के यत्न में लगा हुआ था कि रोम से डरावनी खबरें आईं। मेज़िनी भी स्विट्जरलैंड से स्वदेश को लौट रहा था। मिलान में दोनों देशभक्तों का 'भरत-मिलाप' हुआ और दोनों साथ-साथ रोम की ओर चले कि वहाँ पहुँचकर पार्लियामेंट का विधान बनाएँ और देश को अव्यवस्था और अराजकता की मुसीवतों से वचाएँ। रोम पर उस समय सव ओर से विपत्तियाँ टूट रही थीं। राष्ट्रीय सरकार के पाँव अभी जमने न पाए थे कि एक ओर से नेपुल्स के वादशाह और दूसरी ओर से बोनापोर्ट की सेनाएँ उसका गला घोंटने के लिए आ पहुँचीं। इसके सिवा पोप के जासूसों और पादरियों ने जनसाधारण के अंधविश्वास

का लाभ उठाकर राष्ट्रीय सरकार की ओर से उन्हें भड़काना शुरू कर दिया ।

गेरीबाल्डी इन सारी विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए तैयार था । पहले नेपुल्स के बादशाह से उसकी मुठभेड़ हुई । उसके साथ १५ हजार पक्के, अनेक लड़ाइयाँ देखे हुए सिपाही थे । पर इस बड़ी सेना को उसने पलक मारते छिन्न-भिन्न कर दिया और बहुत दूर तक पीछा करता चला गया । उसका विचार था कि नेपुल्स पर चढ़ जाए, पर फ्रांसीसियों के आ पहुँचने की खबर सुनकर लौट पड़ा । फ्रांसीसी सिपाही अफ्रीका के मैदान से ताज़ा-ताज़ा थे, बडी दृढ़ता से लड़े और क़रीब था कि शहर में घुस पड़ें कि इतने में गेरीबाल्डी अपने एक हज़ार स्वयंसेवकों के साथ आ पहुँचा और घमासान युद्ध के बाद आठ हजार अनुभवी फ्रांसीसी सैनिकों के पाँव उखाड़ दिए । फ्रांसीसी जनरल ऐसा घबराया कि सन्धि की प्रार्थना की । गेरीबाल्डी इसके विरुद्ध था, क्योंकि वह जानता था कि शत्रु केवल कुमुक की प्रतीक्षा करने के लिए मुहलत चाहता है; पर मेजिनी ने सुलह कर लेना ही अधिक उचित समझा । आखिर इस अदूरदर्शिता का परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसियों ने धोखा देकर रोम पर कब्ज़ा कर लिया और गेरीबाल्डी को बड़ी परेशानी के साथ वहाँ से भागना पड़ा ।

इस प्रकार पराजित होकर गेरीबाल्डी अपने पक्के साथियों के साथ, जो डेढ़ हज़ार के लगभग थे, ईश्वर का नाम

ले चल खड़ा हुआ। उसकी पतिप्राणा पत्नी भी उसके साथ थी। बहुत दिनों तक वह देश में मारा-मारा फिरता रहा। साथी दिन-दिन घटते जाते थे। न रक्षा का कोई सामान था, न हरबे-हथियार का कोई प्रबन्ध। शत्रु उसकी एक-एक हर-कत की जाँच-पड़ताल किया करते थे और उसे इतनी मुहलत न देते थे कि जनता को भड़काकर कुछ करा सके। आज यहाँ है, कल वहाँ है। नित्य ही शत्रु के धावे होते थे। गेरीबाल्डी के इस जीवन का वृत्तान्त बहुत ही मनोरंजक कहानी है। सच है, स्वदेश की सेवा सहज काम नहीं है। उसके लिए ऊँचा हौसला, फ़ौलाद की दृढ़ता, दिन-रात मरने-पिसने का अभ्यास और हर समय जान हथेली पर लिये रहने की आवश्यकता है। जब तक यह गुण अपने स्वभाव में समा न जायँ, स्वदेश सेवा का व्रत लेना जबानी ढकोसला है।

अन्त में एक मौके पर आस्ट्रिया की सेना ने उसे घेर लिया कि कहीं से निकल भागने का रास्ता न दिखाई देता था। उसके साथियों ने जान बचाने का कोई उपाय न देख, हिम्मत हार दी और लगभग ९०० आदमियों ने हथियार रखकर शत्रु से प्राणभिक्षा माँगी; पर आस्ट्रिया की सेना का हृदय इतना कलुषित हो रहा था कि उसे इन अभागों की दशा पर तनिक भी दया न आयी, और उस रियायत के बदले, जो युद्ध के नियमों के अनुसार आत्मसमर्पण करनेवालों पर की जानी चाहिए, उसने इन लोगों को कैद करके निर्वासित कर दिया। कितनों ही को कोड़े भी लगवाए। गेरीबाल्डी के साथ कुल

३०० आदमी थे। परीक्षा का समय बुरा होता है, पर उसकी दृढ़ता में तनिक भी अन्तर न पड़ा और न तनिक भी डरा-घबराया। उस छोटी-सी सेना के साथ शत्रु के घेरे से लड़ता-भिड़ता निकल पड़ा और उनकी पाँतों को चीरता-फाड़ता समुद्र के किनारे आ पहुँचा।

यहाँ १५ नावें तैयार थीं। उनमें बैठकर वेनिस की ओर चल पड़ा। थोड़ी दूर गया था कि आस्ट्रिया के जहाज पीछा करते हुए दिखाई दिए और देखते-देखते उसके साथ की १३ नावें उनके हाथ में पड़ गईं। केवल दो, जिनमें गेरीबाल्डी, उसकी पत्नी और कुछ साथी सवार थे, एक टापू के किनारे आ लगीं। यहाँ वह घटना घटित हुई, जो गेरीबाल्डी के जीवन का सबसे अधिक करुण अध्याय है। बेचारी अनीता गर्भवती थी और दिन-रात दौड़ते-भागते फिरने के कष्टों से घबरा गई थी। थकावट और रोग की प्रबलता ने उसे चलने-फिरने में असमर्थ बना दिया था।

गेरीबाल्डी ने कोई उपाय न देख, साथियों को छोड़ दिया और पत्नी को गोद में लेकर चला। तीन दिन बाद उसने एक किसान का दरवाजा खटखटाया और पानी माँगा। अनीता को बड़े ज़ोर की प्यास लगी हुई थी। पर वह मौत की प्यास थी, जो 'शरबते मर्ग' के चखने ही से बुझी। गेरीबाल्डी उसके मुँह में पानी की बूँदें टपका रहा था कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। गेरीबाल्डी के हृदय पर यह घाव आजीवन बना रहा, यहाँ तक कि अन्तिम क्षण में भी अपनी प्यारी पत्नी ही का

नाम उसकी ज़बान पर था। बहुत रोया, पीटा। पर वहाँ रोने को भी अवकाश न था। दुश्मन क़रीब आ पहुँचा था। लाचार वहाँ से भागकर वेनिस पहुँचा और वहाँ से जिनेवा की ओर चला। पर कहीं अभीष्ट सिद्धि का कोई उपाय न दिखाई दिया। जिनेवा से ट्यूनिस होता हुआ जिब्राल्टर पहुँचा। पर यहाँ भी उसे चैन न मिल सका।

सरकार उसके नाम से घबराती थी। यहाँ तक कि जिब्राल्टर में भी जो अंगरेज़ी अमलदारी है, उसे रहने की इजाजत न मिली। लाचार वहाँ से लिवरपूल (इंग्लैंड) आया और वहाँ से संयुक्तराष्ट्र अमरीका की राह ली। वहाँ कोई और उद्यम न पाकर उसने एक ब्रिटिश साबुन के कारखाने में नौकरी कर ली। आश्चर्य है कि ऐसे ऊँचे विचार और आकांक्षा रखनेवाले पुरुष की ऐसे छोटे धंधे की ओर क्योंकर प्रवृत्ति हुई। संभवतः जीविका की आवश्यकता ने विवश कर रखा होगा, क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था बहुत ही हीन हो रही थी। कुछ दिन यहाँ बिताने के बाद उसने एक जहाज़ की नौकरी कर ली और अरसे तक चीन, आस्ट्रेलिया आदि में नाविक का कार्य करता रहा। कई साल तक इस प्रकार भटकने के बाद एक बार न्यूकैसल आया। यहाँ जनता ने बड़े हर्षोल्लास से उसका स्वागत किया और एक तलवार और एक दूरबीन उसे भेंट की। उस अवसर पर किए गए भाषण के उत्तर में गेरीबाल्डी ने कहा—

'अगर तुम्हारे देश ग्रेटब्रिटेन को कभी किसी

की आवश्यकता हो, तो ऐसा कौन अभागा इटालियन है, जो मेरे साथ उसकी मदद को तैयार न हो जाय। तुम्हारे देश ने आस्ट्रेलियावालों को वह चाबुक लगाया है, जिसे वह कभी भूल न सकेंगे। अगर इंग्लैंड को कभी किसी जायज़ मामले में मेरे शस्त्रों की आवश्यकता पड़े, तो मैं उस बहुमूल्य तलवार को, जो तुमने मुझे उपहार-रूप में दिया है, बड़े गर्व के साथ म्यान से बाहर करूँगा।'

पेडमांट के राज्य में अब शान्ति स्थापित हो चुकी थी, इसलिए गेरीबाल्डी ने कचरेरा नामक टापू खरीद लिया और उसे बसाकर खेती का धन्धा करने लगा। खेती की पैदावार को आस-पास के बजारों में ले जाकर बेचा करता था। वह तो यहाँ बैठा हुआ खेतीबारी में उत्साह से लग रहा था, उधर इटली की अवस्था में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा था। यहाँ तक कि आस्ट्रिया के अत्याचारों से ऊबकर पेडमांट की सरकार ने फ्रांस की सहायता से उसके साथ युद्ध की घोषणा कर दी।

अब गेरीबाल्डी की आवश्यकता अनुभव की गई, और प्रधान मन्त्री केयूर ने अप्रैल १८३९ ई० में उसे देश की सहायता करने को निमन्त्रित किया। गेरीबाल्डी तुरन्त अपने शान्तिकुटीर से निकल पड़ा। छोटे-बड़े सबके हृदयों में उसके लिए इतना आदर था, और वह अपनी नीयत का इतना सच्चा और भला था कि दूसरे सैनिक अधिकारी, जो इस विप्लव से स्वार्थ-साधन करने के फेर में थे, उससे बुरा मानने लगे।

परन्तु नवयुवक नरेश विक्टर इमानुएल ने, जो गेरीबाल्डी के गुण स्वभाव से भलीभांति परिचित था, उससे कहा—'आप जहाँ चाहें जायें, जो चाहें करें, मुझे केवल इस बात का दुःख है कि मैं मैदान में आपकी बग़ल में रहकर अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता।'

इस प्रकार बादशाह से यथामति कार्य करने का अधिकार पाकर गेरीबाल्डी ने आस्ट्रिया के विरुद्ध उन छोटी-छोटी लड़ाइयों का सिलसिला शुरू किया, जो इतिहास में अपना जोड़ नहीं रखतीं। उसके साथ १७ हज़ार आदमी थे और यह सब नवयुवक स्वयंसेवक थे, जिन्होंने देशहित पर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देने का संकल्प कर लिया था। उनकी सहायता से उसने कितनी ही लड़ाइयाँ मारीं, कोमो और बरगाओ छीन लिया, और अन्त में उत्तरी इटली से शत्रु को निकाल बाहर किया।

उधर पेडमांट और फ्रांस की संयुक्त सेना ने भी आस्ट्रिया वालों को कई मारकों में हराया और लुंबार्डी छीन लिया, पर जीतों का यह सिलसिला अधिक दिन न चलने पाया। सम्राट नेपोलियन ने पेडमांट का बल अधिक बढ़ते देख, लड़ाई बन्द कर देने का हुक्म दिया। आस्ट्रिया ने भी मौक़ा ग़नीमत जाना और कुछ देर दम ले लेना मुनासिब समझा। गेरीबाल्डी शुरू से कहता आता था कि राष्ट्र बाहरी शक्तियों की सहायता से कभी स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकता। वह फ्रांस की सहायता स्वीकार करने के एकदम विरुद्ध था, पर पेडमांट सरकार ने

उसकी सलाह के खिलाफ़ काम किया था, और अब उसे अपनी अदूरदर्शिता का फल भुगतना पड़ा।

उस समय थोड़े ही दिनों तक लड़ाई और जारी रहती, तो इटली से आस्ट्रिया की सत्ता की जड़ उखड़ जाती, पर लड़ाई के बन्द हो जाने से उसे फिर शक्ति संचय का अवसर मिल गया। अन्त में गेरीवाल्डी ने नाराज होकर इस्तीफ़ा दे दिया, पर शाह इमानुएल ने ऐसे नाजुक वक्त में उसका इस्तीफ़ा मंजूर करना मुनासिब न समझा। अतः गेरीवाल्डी ने अपने ही स्वयंसेवकों से स्वतंत्र रूप में, युद्ध जारी रखने का जिम्मा लिया; पर उस पर चौतरफ़ा प्रत्यक्ष रूप में ऐसे दबाव पड़ने लगे कि अन्त में हताश होकर उसने फिर इस्तीफ़ा दे दिया, और अबकी बार वह स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि राष्ट्र ने इसका प्रबल विरोध किया।

पर स्वाधीनता के पुजारी और स्वदेश के सच्चे प्रेमी से कब चुप बैठा जाता था? लेखों और भाषणों से वह जनता को स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए उभारता रहता था। गुप्त रूप से वितरित पर्चों और पुस्तकों के द्वारा उसके राष्ट्रीय भाव उत्तेजित किए जाते, बराबर घोषणाएँ प्रकाशित की जातीं थीं, जिनमें उद्देश्य-सिद्धि के साधनों और उपायों पर जोरदार शब्दों में बहस की जाती थी। गेरीवाल्डी का मत था कि जब तक देश में १० लाख बन्दूकें और १० लाख निशानेबाज न हो जाएँगे, राष्ट्र स्वाधीन न हो सकेगा। इन घोषणाओं का प्रभाव अन्त में यह हुआ कि अमरीकावालों ने सहायता रूप में

चौबीस हज़ार बन्दूकें एक जहाज में लदवाकर गेरीबाल्डी के पास भेजीं। कई हज़ार नौजवान अपने को राष्ट्र पर कुरबान कर देने को तैयार हो गए और गेरीबाल्डी दो हज़ार जवानों को लेकर सिसली की ओर चला।

यहाँ नेपुल्स के बादशाह ने प्रजा को सता-सताकर विप्लव के लिए तैयार कर रखा था। इन उत्पीड़ितों ने ज्यों ही सुना कि गेरीबाल्डी उनकी सहायता को आ रहा है, अपनी-अपनी तैयारियों में लग गए और बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। मसाला तैयार था ही, गेरीबाल्डी ने आते ही आते प्लरमो पर ऐसा जोर का धावा किया कि शाही फ़ौज क़िला-बन्द हो गई और उसने प्राण-भिक्षा माँगी। जनता का उस पर ऐसा विश्वास था कि उसने उसे अपना उद्धारक मानकर सिसली के अधिनायक की उपाधि दी।

शाह इमानुएल पहले ही से इस युद्ध के विरुद्ध थे, इस डर से कि नेपुल्स नरेश आस्ट्रिया से मेल करके कहीं हमारे मुल्क पर हमला न कर बैठे, इस विजय का समाचार मिला, तो गेरीबाल्डी से अनुरोध किया कि अब आप नेपुल्स सरकार को और ज्यादा हैरान न करें, जिसमें वह संयुक्त इटली का अंग बन सके; पर गेरीबाल्डी ने अपनी राय न बदली। पहले तो उसने सिसली से शाही फ़ौज को निकाला, फिर इटली के दक्षिणी समुद्र तट पर उतर पड़ा। इसकी खबर पाते ही चारों ओर से जनता उसके दल में सम्मिलित होने के लिए टूटने लगी। मानो वह इसी की प्रतीक्षा में थी।

अधिकतर स्थानों में नई अस्थायी सरकारें स्थापित हो गई और ३१ अगस्त को जनता ने 'उभय सिसली के अधिनायक' (डिक्टेटर) की उपाधि, जो नेपुल्स नरेश को प्राप्त थी, गेरीबाल्डी को प्रदान कर दी। फ्रांसिस के होश उड़ गए। गेरीबाल्डी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। पर तीन लड़ाइयों में से एक का परिणाम उसके लिए अच्छा न हुआ। ८ सितम्बर को गेरीवाल्डी नेपुल्स में दाखिल हुआ। इसके दूसरे दिन विक्टर इमानुएल वहाँ का वादशाह घोपित किया गया और सारे राज्य की प्रजा की सहमति से सिसली और नेपुल्स दोनों पेडमांट के राज्य में सम्मिलित कर दिए गए।

राष्ट्र की इस महत्वपूर्ण सेवा के बाद, जो उसके जीवन का आधा कार्य कहा जा सकता है, गेरीवाल्डी ने अपनी सेना को तोड़ दिया और अपने जजीरे को लौट आया। अब केवल रोम और वेनिस वह स्थान थे, जो अभी तक पोप और आस्ट्रिया के पंजे में फँसे हुए थे। दो साल तक वह अपने शान्तिकुटीर में बैठा हुआ उत्पीड़ित लोगों में स्वाधीनता के भाव भरता रहा। अंत में उसकी कोशिशों का जादू चल गया और वेनिसवाले भी स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयास के लिए तैयार हो गए। अब क्या देर थी? गेरीवाल्डी तुरंत चुने हुए वीरों की छोटी-सी सेना लेकर चल खड़ा हुआ, पर विक्टर इमानुएल को उसकी यह धृष्टता बुरी लगी। प्रधान मन्त्री केयूर के मर जाने से उसके मन्त्रियों में कोई वीर साहसी पुरुप न रह गया था। सबके सब डर गए कि कहीं आस्ट्रियावाले हमारे पीछे न पड़

जाएँ, इसलिए गेरीबाल्डी को रोकने के लिए सेना भेजी। वह अपने देशवासियों से लड़ना न चाहता था। जहाँ तक हो सका, बचता रहा। अन्त में घिर गया और युद्ध अनिवार्य हो गया। संभव था कि वह यहाँ से भी साफ़ निकल जाता, पर ऐसे गहरे घाव लगे कि लाचार होकर घर लौट आया और कई महीने तक खाट सेता रहा।

सन् १८६४ ई० में गेरीबाल्डी इंग्लैण्ड की सैर को गया। यहाँ जिस धूमधाम से उसका स्वागत किया गया, जिस ठाट से उसकी सवारी निकाली गई, सम्राटों के आगमन के अवसरों पर भी वह मुश्किल से दिखाई दे सकती है। जो भीड़ गली-कूचों और खास-खास जगहों पर उसके दर्शन के लिए इकट्ठी हुई, वैसा जनसमुद्र कभी देखने में नहीं आया। वह वहाँ १० दिन तक रहा। सैकड़ों संस्थाओं ने मानपत्र दिये! कितने नगरों ने तलवारें और उपाधियाँ भेंट कीं। २२ अप्रैल को वह फिर जज़ीरे को लौट आया।

इसी बीच आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ गया। गेरीबाल्डी ने शत्रु को उधर फँसा देखकर अपनी उद्देश्य-सिद्धि के उपाय सोच लिए। ११ जून १९६६ ई० को वह अचानक जिनेवा में आ पहुँचा और आस्ट्रिया के विरुद्ध विप्लव खड़ा कर दिया। पहली ही लड़ाई में उसकी रान में ऐसा गहरा घाव लगा कि उसके योद्धाओं को पीछे हटना पड़ा। घाव भर जाने के बाद उसने कोशिश की कि फ्रांस के राज्य में चला जाए और उधर से शत्रु पर हमला करे। पर आस्ट्रिया की

सेना ने यहाँ उसे फिर रोका और बड़ा घमासान युद्ध हुआ, जिसमें विपक्ष ने करारी हार खायी। चूंकि आस्ट्रिया के लिए अकेले प्रशिया से ही निबटना आसान न था, इसलिए दक्षिण के युद्ध की अपेक्षा उत्तर की ओर ध्यान देना उसे अधिक आवश्यक जान पड़ा। अतः सुलह की बातचीत होने लगी और युद्ध की शुभ समाप्ति हुई। सुदीर्घ काल के बाद वेनिस-वालों की कामना पूर्ण हुई और वह भी इटली का एक प्रान्त बन गया।

१८६७ ई० में गेरीबाल्डी ने फिर रोम पर हमला करने की तैयारियाँ शुरू कीं। इटली सरकार ने उसके रास्ते में बहुत रुकावटें डालीं और उसे कैद भी कर दिया, पर वह इन सब विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अन्त में फ्लोरेंस में आ पहुंचा। इटली में अब पोप ही का राज्य ऐसा खण्ड रह गया था, जहाँ राष्ट्रीय शासन न हो, और गेरीबाल्डी की आत्मा को तब तक शान्ति नहीं मिल सकती थी, जब तक कि वह इटली की एक-एक अंगुल जमीन को विदेशी शासन से मुक्त न कर ले। यद्यपि उसने दो बार रोम को पोप के पंजे से निकालने का महाप्रयत्न किया, पर दोनों बार विफल रहा। ज्यों ही उसके फ्लोरेंस में आ पहुँचने की खबर मशहूर हुई, जनता में जोश फैल गया और कुछ ही दिनों में स्वयंसेवकों की खासी सेना उसके साथ हो गई। पोप की सेना तैयार थी। युद्ध आरंभ हो गया और यद्यपि पहली जीत गेरीबाल्डी के हाथ रही, पर दूसरी लड़ाई में फ्रांस और पोप के खातिर तोप

बन्दूक का सामना करता है और उसे प्रशिया के पंजे में पड़ने से बचा लेता है।

फ्रांस और प्रशिया में संधि हो जाने के बाद गेरीबाल्डी अपने घर लौट आया और चूंकि जाति को अब उसकी सामरिक योग्यता की आवश्यकता न थी, इसलिए अपने कुटुम्ब के साथ शान्ति से बुढ़ापे के दिन बिताने लगा। पर इस अवस्था में भी देश की ओर से उदासीन न रहता था, किन्तु उसके शिल्प और उद्योग की उन्नति के उपाय सोचने में लगा रहता था। १८७५ ई० में वह बालबच्चों के साथ रोम की यात्रा को रवाना हुआ। यहाँ जिस ठाट से उसका स्वागत हुआ, वह दुनिया के इतिहास में बेजोड़ घटना है। जब वह यहाँ से वापस चला, तो २० हजार आदमी पैदल, राष्ट्रीय गीत गाते-बजाते उसे विदा करने आये। उसके जीवन के आत्मत्यागों के बदले में यही एक दृश्य पर्याप्त था।

गेरीबाल्डी का शेष जीवन कपरेरा में व्यतीत हुआ। वह अपने बालबच्चों के साथ शान्ति से जीवन यापन करता रहा। उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। स्वास्थ्य और बल भी बिदा हो चुका था; परन्तु श्रम से कुछ ऐसा सहज प्रेम था कि अन्तिम क्षण तक कुछ न कुछ करता रहा। और जब सब शक्तियाँ जवाब दे चुकीं, बैठा उपन्यास लिखवाया करता। अन्त में १८८४ ई० में थोड़े दिन बीमार रहकर इस नश्वर जगत से बिदा हो गया—और एक ऐसे पुरुष की स्मृति छोड़ गया, जो स्वदेश का सच्चा भक्त और राष्ट्र का ऐसा सेवक

था, जिसने अपने अस्तित्व को उसके अस्तित्व में निमज्जित कर दिया था, और जो न केवल इटली का, किन्तु अखिल मानव जाति का मित्र और हितचिन्तक था।

आज इसका नाम इटालियन जाति के एक-एक बच्चे की ज़बान पर है। उसके साहस, उदारता, ऊँचे हौसले और सौजन्य की सैकड़ों कथाएँ साधारण चर्चा का विषय हैं। शायद ही कोई शहर हो, जिसने उसकी प्रतिमा स्थापित कर अपनी कृतज्ञता का परिचय न दिया हो। पर उसकी कार्यावली का सबसे बड़ा स्मारक वह विस्तृत राज्य है, जो आल्प्स पर्वत से लेकर सिसली तक फैला हुआ है और वह राज्य है, जो आज इटालियन के नाम से प्रसिद्ध है।

●

मौ० वहीदुद्दीन 'सलीम'

वहादुद्दीन नाम, 'सलीम' उपनाम, पिता का नाम हाजी फ़रीदुद्दीन साहब, पानीपत, ज़िला करनाल (पंजाब) के प्रतिष्ठित सैयद कुल के थे। उनके दादा मुलतान से स्थानान्तर कर पहले पाकपट्टन पहुँचे, जहाँ हाजी फ़रीदुद्दीन साहब का जन्म हुआ, फिर पानीपत आये और इसी क़सबे को वासस्थान बनाया। हाजी साहब पानीपत के सुप्रसिद्ध महात्मा हज़रत बू अली शाह क़लन्दर के मज़ार के मुतवल्ली (प्रबन्धक) थे। बहुत पूजा-पाठ करनेवाले और यंत्र-मंत्र में प्रसिद्ध थे।

बिहार के स्थावन क़सबे के पूजनीय सन्त मौलाना सैयद ग़ौस अलीशाह लम्बे पर्यटन के बाद जब पानीपत पधारे, तो हाजी साहब ने आग्रह करके उनको क़लन्दर साहब के हाते में ठहराया और १८ बरस तक उनकी सेवा की। मौलाना हाजी साहब पर बहुत कृपा रखते थे। आप और आपके मेहमानों के लिए दोनों वक्त हाजी साहब के घर से खाना आता था। हाजी साहब के यहाँ साधारणतः लड़कियाँ होती थी, पुत्र-सुख से वह वंचित थे। हज़रत की दुआ से उनको दो पुत्र प्राप्त हुए। बड़े बेटे का नाम वहीदुद्दीन और छोटे का नाम हमीदुद्दीन रखा गया। यही बड़े बेटे हमारी इस चर्चा के विषय मौलाना सलीम साहब हैं।

क़सबे की एक शरीफ़ उस्तानी ने जो आपा शम्मूनिसा के

नाम से प्रसिद्ध थी, मौलाना को कुरानशरीफ़ कंठ कराया। इसके बाद खुद मौलाना हज़रत ग़ौस अली ने उनको सरकारी स्कूल में भरती कराया। हाजी साहब की परलोक यात्रा के बाद उनकी पढ़ायी-लिखायी की निगरानी खुद हज़रत ही ने की। मौलाना को लड़कपन से ही फ़ारसी का शौक था। अपनी निज की कोशिश से फ़ारसी की क़िताबें पढ़ने और टीकाओं की सहायता से उनको समझने का यत्न करते रहे।

जब गुलिस्तां का तीसरा अध्याय पढ़ते थे और उनकी अवस्था कुल १४ साल की थी, हज़रत मौलाना की स्तुति में फ़ारसी में एक क़सीदा लिखा, जिसमें १०१ शेर हैं और सुप्रसिद्ध कवि उर्फ़ी के एक क़सीदे के जवाब में ऊँचे स्वर से यह क़सीदा पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर श्रोतृमण्डली विस्मय विमुग्ध हो गई कि इस उम्र और इस योग्यता का बच्चा ऐसे क्लिष्ट भावों को क्योंकर बांध सका। वस्तुतः यह हज़रत मौलाना का ही प्रसाद था और 'तज़करिए ग़ौसिया' में यह क़सीदा उनकी करामात के दृष्टान्त रूप में छापा गया है। इस रचना के पुरस्काररूप में हज़रत ने एक जयपुरी अशरफी और एक जरी के काम की बनारसी चादर मौलाना को प्रदान की थी।*

मिडिल तक पढ़ने के बाद मौलाना सलीम पानीपत से लाहौर पहुँचे, जहाँ मौलाना फ़ैज़ुलहसन साहब सहारनपुर से अरबी पढ़ी, जो उस समय ओरियंटल कालिज के अरबी के

*तज़किरए ग़ौसिया

प्रोफेसर थे। तफ़सीर (कुरान की व्याख्या) भी उन्हीं से पढ़ी। फ़िक़ाह (इसलामी धर्मशास्त्र) और तर्क तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन मौलाना अब्दुल अहद टौंकी से किया। यह सारी पढ़ाई महज शौक़ की चीज और स्वतंत्र कार्य था। एंट्रेंस और मुन्शी फ़ाज़िल के सिवा विश्वविद्यालय की और कोई परीक्षा पास नहीं की। हां, विश्वविद्यालय के अध्यापकों से पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, रसायन-शास्त्र और गणित का अध्ययन किया, पर इस सिलसिले में भी कोई परीक्षा नहीं दी। क़ानून पढ़कर वकालत करने का विचार था, और क़ानून के दरजे में भरती भी हो गए थे; पर जीविका की आवश्यकता से लाचार होकर यह विचार त्याग देना पड़ा और भावलपुर रियासत के शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली।

एजर्टन कालेज भावलपुर में ६ साल काम करने के बाद रामपुर रियासत के हाईस्कूल के हेड मौलवी के पद पर बुला लिए गए; पर यह सिलसिला छः महीने से अधिक न चल सका, क्योंकि जनरल अज़ीमुद्दीन, जो मौलना को मानते थे, अचानक क़तल कर दिए गए। इधर मौलाना भी ऐंठन के रोग से पीड़ित होकर ६ साल तक खाट पर पड़े रहे। इसके बाद आपने जलंधर के एक मशहूर हकीम से (जो हकीम महमूद खां के सहपाठी थे) यूनानी तिब्ब का अध्ययन किया और इसी तौर पर डाक्टरी का भी ज्ञान प्राप्त कर पानीपत में चिकित्सा कार्य आरम्भ किया, जो कई साल तक सफलतापूर्वक चलता रहा।

इसी समय मौलाना हाजी आपको अपने साथ अलीगढ़ ले गए और सर सैयद अहमद खाँ से मिलाया। सर सैयद की पारखी निगाह ने उस दुर्लभ रत्न को पहचान लिया और आग्रह करके अपने पास रहने पर राज़ी कर लिया और फिर मरते दम तक उन्हें अपने पास से हटने न दिया। मौलाना कभी किसी बात पर नाराज़ होकर अलीगढ़ से चले जाते, तो सर सैयद अपने ख़ास दोस्त मौलवी जैतुलआबिदीन को उनके पीछे-पीछे स्टेशन तक भेजते और मौलाना सलीम खींच-खांच-कर सर सैयद के दरबार में वापस लाये जाते। सर सैयद का नियम था कि जो शास्त्रीय या धर्म संबंधी विषय विचारणीय होते, उन पर मौलाना सलीम के साथ बहस-मुबाहसा करते थे। दोनों दो पक्ष ले लेते और विचारणीय प्रश्न के एक-एक अंग को लेकर उस पर ख़ूब बहस-मुबाहसा और खण्डन-मण्डन करते। अन्त में किसी सिद्धान्त पर पहुँचकर विवाद समाप्त कर दिया जाता। इस सहायता के अतिरिक्त सलीम सर सैयद को ग्रंथ-रचना में भी मदद देते थे और उनके लेखों का मसाला इकट्ठा करते थे। अलीगढ़ गजट और 'तहजीबुल अख़लाक़' में लेख लिखते थे।

सर सैयद अहमद के देहान्त के बाद मौलाना सलीम ने हाजी इसमाईल खाँ साहब रईस बतावली के सहयोग से 'मुआरिफ' नामक मासिक निकाला, जिसका बड़ा आदर हुआ। इसी समय मौलाना के छोटे भाई हमीदुद्दीन साहब ने 'हाली प्रेस' के नाम से पानीपत में एक छापाखाना खोला,

जो कई साल तक चलता रहा। अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों की मशहूर हड़ताल समाप्त होने के बाद स्वर्गवासी नवाब मुहसिनुलमुल्क ने मौलाना को 'अलीगढ़ गजट' की सम्पादकी के लिए बुलाया। मौलाना कई साल तक इस कार्य को बड़े उत्साह और तत्परता के साथ करते रहे। बाद में बीमारी से लाचार होकर इस्तीफा देकर घर लौट गये, और कई साल तक एकान्तवासी रहे। फिर जब लखनऊ के क्षितिज पर 'मुसलिम गजट' का उदय हुआ, तो पत्र के संचालकों को आप ही उसका संपादन-भार उठाने के योग्य दिखाई दिए और मौलाना हाली के आग्रह से आपने यह पद स्वीकार कर लिया।

यह वह समय था, जब आधुनिक राजनीति का आरम्भ हुआ था। मुसलमानों ने राजनीति के मैदान में कुछ बड़े कदम उठाए थे। मुसलिम लीग के लक्ष्य में आत्मशासन की माँग सम्मिलित हो रही थी। मुसलिम विश्वविद्यालय का विधान बन रहा था और विश्वविद्यालय में सरकार के अधिकार का प्रश्न सारी जाति का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था। तराबलस (ट्रिपोली) और बाबक के युद्धों ने मुसलमानों की अनुभूति को झकझोरकर जगा दिया था और इसके कुछ ही अरसे बाद कानपुर मसजिद की घटना से सारी मुसलिम जाति के भावों में उफान आ गया था। ऐसे समय में मौलाना की शक्तिशाली लेखनी ने 'मुसलिम गज़ट' के पृष्ठों पर जो सपाटे भरे, जो रचना-चमत्कार दिखाया, वह उर्दू साहित्य की

मूल्यवान निधि है। सच यह है कि उस ज़माने में मौलाना की करामाती क़लम ने सारी मुसलिम जाति की मनोवृत्ति में स्पष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

'मुसलिम गज़ट' की धूम उस समय देश के कोने-कोने में मच रही थी। अन्त में अधिकारियों की दमन नीति के कारण मौलाना को 'मुसलिम गज़ट' का संपादन छोड़ना पड़ा, पर शीघ्र हीं 'जमींदार' के प्रधान सम्पादक के पद पर बुला लिये गए। उस समय 'ज़मींदार' हिन्दुस्तान का सबसे अधिक छपने और बिकनेवाला अख़बार था। अँगरेजी अख़बारों में भी केवल एक 'स्टेट्स्मैन' ऐसा था, जिसका प्रचार 'ज़मींदार' से अधिक था। शेष सब पत्र उसके पीछे थे। मौलाना के ज़माने में 'ज़मींदार' बड़ी शान से निकलता रहा। अन्त में जब उसका छापाखाना ज़ब्त हो गया, तो मौलाना अपने घर चले गये।

अमर साहित्य-सेवा

हैदराबाद में उसमानिया यूनिवर्सिटी स्थापित होने के पहले एक महकमा दारुल तर्जुमा (अनुवाद विभाग) के नाम से स्थापित किया गया था जो विश्वविद्यालय के लिए पाठ्य ग्रन्थों का भाषान्तर करे। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों के भाषान्तर में उपस्थित हुई। अनुवादकों के समूह अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न मत रखते थे। कोई निर्णायक सिद्धान्त दिखाई न देता था। मौलाना सलीम चूँकि इस प्रश्न पर बहुत अरसे से सोच-विचार रहे थे, इस-

लिए बुलाए गए। हैदराबाद पहुँचकर वह परिभाषा की कमेटियों में सम्मिलित हुए और परिभाषा-निर्माण के विषय पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में मौलाना ने सिद्ध किया है कि उर्दू आर्यकुल की भाषा है। जो लोग अरबी व्याकरण के अनुसार परिभाषाएँ बनाते हैं, वह वस्तुतः इस भाषा की प्रकृति के विरुद्ध कार्य करते हैं। इस बात को आपने बहुत ही सबल युक्ति-प्रमाणों से सिद्ध किया है। परंतु पुराण-पन्थी अनुवादकों ने इस पर चारों ओर यह बात फैला दी कि मौलाना अरबी के विरोधी और हिन्दी के पक्षपाती हैं।

मौलाना ने इस पुस्तक में बताया है कि आर्य भाषाओं में जो सामान्य नियम हैं, वे सब उर्दू में मौजूद हैं। जैसे आर्य भाषाओं का एक नियम यह है कि दो से अधिक शब्द परस्पर मिलकर समास या संयुक्त पद बन जाते हैं। इसके उदाहरण में आपने उर्दू के बहुत शब्द उपस्थित किए हैं। बताया है कि उपसर्ग (prefix) और प्रत्यय (suffix) के द्वारा शब्दनिर्माण भी अन्य भाषाओं की प्रकृति है। इसके प्रमाण में वह संपूर्ण उपसर्ग और प्रत्यय लिख दिये, जो हिन्दी, फ़ारसी, तुर्की आदि भाषाओं से उर्दू में लिये गए हैं। यह भी बताया है कि यह दोनों नियम अरबी और दूसरी सामी (सिमेटिक) भाषाओं में नहीं हैं। संयुक्त पद बनाने की जो विधियाँ उर्दू में काम में लायी जाती हैं, वे सब बतायी हैं. फिर सब प्रकार की परि-भाषाएँ बनाने के सिद्धांत उदाहरण सहित समझाए हैं। इन सिद्धान्तों को सब अधिकारी विद्वानों ने समीचीन मान लिया

है और उपर्युक्त अनुवाद विभाग में प्रायः उन्हीं के अनुसार पारिभाषिक शब्द बनाए जाते हैं।

सच यह है कि यह ग्रन्थ लिखकर मौलाना ने उर्दू भाषा का इतना बड़ा उपकार किया है, जिसका ऋण आनेवाली शताब्दियों तक चुकाया जाएगा। पारिभाषिक शब्द बनाने की पद्धति प्रस्तुत करके उर्दू भाषा के जीवित रहने का साधन जुटा दिया और अब निश्चय ही यह एक ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न भाषा बन जाएगी और इसमें जीवित रहने की योग्यता उत्पन्न हो जाएगी। मेरा तो विश्वास है कि इस पुस्तक ने मौलाना सलीम के नाम को अमर कर दिया।

उसमानिया यूनिवर्सिटी से सम्बन्ध

उसमानिया यूनिवर्सिटी खुलने पर मौलाना उर्दू साहित्य के असिस्टेंट प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुए। प्रोफ़ेसर का पद इस विश्वविद्यालय में उन्हीं लोगों को दिया जाता है, जो यूरोप की डिग्री प्राप्त कर चुके हों, पर चार साल बाद मौलाना अपवाद रूप में प्रोफ़ेसर बना दिये गए। उस समय आपकी अवस्था ५० साल के लगभग थी। तब से अन्तकाल तक इसी पद पर रहे।

पांडित्य

मौलाना ने अरबी के संपूर्ण पाठ्य-विषय और ग्रन्थ पढ़े थे। फ़ारसी के उच्चतम कोटि के ग्रन्थ पढ़े और पढ़ाए थे। नवीन पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान उर्दू अनुवादों के द्वारा और

अँगरेज़ी जाननेवालों से पुस्तकें पढ़वाकर प्राप्त किया था। जब वह सर सैयद के साहित्यिक सहकारी नियुक्ति हुए, तो सर सैयद पर उनकी सर्वज्ञता का सिक्का बैठ गया और मरते दम तक उन्हें अपने पास से अलग नहीं किया। यद्यपि उन्होंने उच्च अँगरेज़ी शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, पर अँगरेज़ीदाँ से जब किसी विषय पर वार्तालाप होता था, तो उनको अक्सर लज्जित होना पड़ता था। प्रोफ़ेसरी के ज़माने में भी वह उर्दू साहित्य की शिक्षा उसी नई प्रणाली से देते थे, जिस पर अँगरेज़ी साहित्य शिक्षा अवलंबित है।

कवित्व

मौलाना के आरंभिक जीवन वृत्तान्त की खोज से मालूम हुआ है कि उन्हें शायरी का शौक १४ वरस की उम्र से था। आरंभ में उर्दू ग़ज़लें उसी ढंग की लिखीं, जैसी आमतौर से लिखी जाती हैं। लाहौर में शिक्षा प्राप्ति के समय उनके विचार बदले और उन्होंने बहुत सी इसलामी कविताएँ लिखीं। उस ज़माने में फ़ारसी और अरबी भाषाओं में भी बहुत से पद्य लिखे। इन दोनों भाषाओं में भी उनकी रचना प्रौढ़ समझी गई थी। सर सैयद के साहित्यिक सहकारी नियुक्त होने से पहले यह सिलसिला जारी रहा, पर इस पद पर पहुँचने के बाद से गद्यरचना की ओर अधिक झुकाव हो गया था। फिर भी उर्दू शायरी नहीं छूटी। जब तब दिल में उमंग उठती औ[illegible] में भरे हुए भाव पद्य रूप में बाहर आ जाते। यह [illegible]

मित्रों के हाथ लगीं, वह ले गये। उस समय की कविता अब उपलब्ध नहीं। हाँ, 'मआरिफ़', 'ज़मींदार', 'मुसलिम गजट' की फ़ाइलों में उसका कुछ अंश विद्यमान है, पर सब कल्पित नामों से प्रकाशित हैं। कितनी ही रचनाओं के अंत में 'एक लिबरल मुसलमान' लिखा है।

असल बात यह है कि मौलाना सलीम प्रौढ़ और रस-सिद्ध कवि होने पर भी कवि कहलाने में सकुचाते थे और अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने में सदा आनाकानी किया करते थे। मित्रों के बहुत आग्रह करने पर भी अपना शेष काव्य प्रकाशित कराने को तैयार नहीं हुए। यह अप्रकाशित काव्य हैदराबाद के प्रवास काल से सम्बन्ध रखता है। उन दिनों वहाँ हर महीने एक मुशायरा हुआ करता था, उसमें बड़े-बड़े प्रौढ़ कवि सम्मिलित होते थे। मित्रों के आग्रह से मौलाना भी उसमें सम्मिलित होने लगे और मित्रों तथा शिष्यों ने उन रचनाओं को मासिकों में छपने के लिए बाहर भेजना शुरू कर दिया। ग़ज़लों के अतिरिक्त अब उनकी स्थायी रचनाएँ भी पत्रों में प्रकाशित होने लगीं। जब मौलाना हाली जीवित थे, तो मौलाना ने अकसर अपनी रचनाएँ सुनायीं, पर इसलाह कभी नहीं ली। मौलाना हाली उनके कहने के ढंग और भावों की सुन्दरता पर अक्सर घण्टों झूमा करते थे। कहा करते थे कि तुम तो शायरी के छिपे देवता हो।

मौलाना हाली ने अपने 'मुकद्दमए शेरो शायरी' में उर्दू कविता के खासकर ग़ज़लगोई के जो दोष बताए हैं, मौलाना

ने उनको त्याग दिया था। ग़ज़ल से जो भाव निबद्ध करते थे, वह प्रायः राजनीति के और नीति सम्बन्धी होते थे, जो उपमा और रूपक के पर्दे में व्यक्त किए जाते थे। समझनेवाले उन इशारों को समझते और मजे लेते थे। मौलाना के काव्य की एक बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने मुसलमानों के सांप्रदायिक भेद को कभी प्रकट नहीं किया। हिन्दू मुसलमानों को सदा मेल का उपदेश देते रहे। कोई बात, जो किसी इसलामी फ़िरके या हिंदुओं के दिल को चोट पहुँचाती हो, कभी उनकी क़लम से नहीं निकली। आपने हिन्दुओं के इतिहास और साहित्य का उसी सम्मान के साथ उल्लेख किया है, जिस प्रकार एक सुसंस्कृत कवि को करना चाहिए।

स्थायी रचनाएँ

मौलाना की स्थायी रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक वह जो हृदय की स्फूर्ति से लिखी हैं, दूसरी वह जो अँगरेज़ी कवियों की रचनाओं के आधार पर हैं। पहले प्रकार की रचनाओं में कुछ ऐसी हैं, जो रचना-शैली, नए पुराने रूपकों की उत्प्रेक्षाओं के सुन्दर प्रयोग और सूक्ष्म गंभीर भावों के विचार से निस्संदेह 'मास्टरपीस' कही जाने योग्य हैं। दूसरे प्रकार की रचनाओं में भी उन्होंने कवित्व के प्राण को सुरक्षित रखा है, शाब्दिक अनुवाद का कभी यत्न नहीं किया। अतः ये रचनाएँ भी बिलकुल ऐसी हैं, जैसी अपने हृदय की प्रेरणा से लिखी जाती हैं।

मौलाना सलीम सदा इस बात का यत्न करते थे कि शेर में कोई न कोई नवीनता अवश्य हो। कहने का ढंग निराला हो या कोई नई उपमा उत्प्रेक्षा हो, या कोई नया भाव व्यक्त किया गया हो। कोई भी नवीनता न हो, तो वह उस शेर को पसन्द न करते थे। उनके कवित्व में अध्यात्म तत्त्व भी है और दर्शन भी। अध्यात्म का अंश उस सत्संग का सुफल है, जो बचपन में हजरत मौलाना सैयद ग़ौसअलीसाहब का प्राप्त हुआ था और दर्शन का पुट नव्य ज्ञान का प्रसाद है। उनकी गजलें प्राय: सभी बढ़िया और सुन्दर हैं; पर वे ग़जलें सर्वोत्तम है, जो हैदराबाद के मुशायरे में पढ़ी गईं। वे प्राय: युवकों को लक्ष्य कर लिखी गई है, जिनकी प्रगतिशीलता को वह ग़जलों में भी उकसाते रहते थे।

मौलाना धार्मिक कट्टरपन और पक्षपात से मुक्त थे। उनके विचार अध्यात्म और दर्शन के प्रभाव से स्वतंत्र प्रकार के थे। इस स्वतंत्रता की झलक उनकी कविता में जगह-जगह दिखाई देती है।

गद्य रचना

मौलाना ने गद्य लिखना प्राय: उस समय से आरंभ किया, जब वह सर सैयद के साहित्यिक सहकारी थे। सर सैयद की संगति के प्रभाव से उनके गद्य में यह विशेपता उत्पन्न हो गई कि प्रत्येक भाव को स्पष्टता के साथ प्रकट करते हैं। उनके वर्णन में कोई ऐसी ग्रंथि नहीं होती, जिससे पढ़नेवाले

को अर्थबोध में कठिनाई पड़े । प्रत्येक विषय को प्रवाह रूप में लिखते जाते हैं । जब जोश आता है, तो उबल पड़ते हैं और ऐसे अवसरों पर उनकी लेखनी से जो वाक्य निकल जाते है, वे अति प्रभावकारी और हृदयस्पर्शी होते हैं । अकारण अरबी के बड़े-बड़े शब्द लिखकर पाठक पर वह अपने पांडित्य की धाक जमाना नहीं चाहते । कहीं भी शब्दों की काटछाँट के पीछे नहीं पड़ते, नए-नए पदविन्यास रचकर पढ़नेवालों पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठाना नहीं चाहते; किन्तु प्रत्येक विषय और प्रबन्ध को आदि से अन्त तक सरल और चलते ढंग से लिखना चाहते हैं । यह बात स्वयं विषय के अधिकार में है कि किसी जगह अपने-आप ओज की धारा वह निकले और उनके विचारों को अपने प्रवाह में बहा ले जाए । इच्छा और प्रयत्न का उसमें कोई दखल नहीं होता । सारांश, गद्य लेखन में वह सर सैयद की शैली के अनुगामी थे। अरबीदाँओं का समुदाय आजकल जिस प्रकार अरबीनुमा उर्दू लिखता है, उसको वह अपने लिए पसन्द न करते थे । हालाँकि अगर वह चाहते, तो अपने प्रकांड पाण्डित्य और अरबी भाषा पर असाधारण अधिकार के सहारे क्लिष्ट से क्लिष्ट अरबी मिश्रित भाषा लिख सकते थे । वस्तुतः उन्हें ऐसी भाषा से बड़ी घबराहट होती थी ।

चूँकि इन पंक्तियों के लेखक को मौलाना की सुहबत से लाभ उठाने के बहुत अधिक अवसर मिले हैं, महीनों एक जगह का उठना-बैठना रहा है, इसलिए इस विषय में उनकी

रुचि-प्रवृत्ति का विशेष रूप से पता है। अकसर ऐसा संयोग हुआ है कि मौलाना कोई दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र पढ़ रहे हैं, पढ़ते-पढ़ते किसी जगह रुक गए और अपने खास ढंग में उस रचना या शैली के दोष-गुण की समीक्षा आरम्भ कर दी या स्वर के उतार-चढ़ाव या लहजे के अदल-बदल से प्रशंसा वा निन्दा व्यंजित करने लगे। मौलाना की संगति में ऐसे अवसर बहुत ही मनोरंजक होते थे।

मौलाना जिस विषय को उठाते, अकसर उसके गंभीर ज्ञान का परिचय देते थे। इस प्रकार के निबन्धों में से 'तुलसीदास की शायरी', 'अरब की शायरी' औरंगाबाद (दक्षिण) से प्रकाशित होनेवाले त्रैमासिक 'उर्दू' में प्रकाशित होकर लोकप्रिय हो चुके हैं। उनके लेख 'तहज़िबुल अख़लाक़' 'इंस्टिट्यूट गज़ट', 'मआरिफ़', 'अलीगढ़ मन्थली' आदि पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। यह सब इकट्ठा कर दिये जाएँ, तो एक अति सुन्दर साहित्यिक संग्रह तैयार हो सकता है।

डा० सर रामकृष्ण भांडारकर

डाक्टर भांडारकर का जीवन चरित्र उन लोगों के लिए विशेष रूप से शिक्षाप्रद है, जिनका सम्बन्ध शिक्षा विभाग से है। उनके जीवन से हमको सबसे बड़ी शिक्षा यह मिलती है कि दृढ़-संकल्प और धुन का पूरा मनुष्य किसी भी विभाग में क्यों न हो, मान और यश के ऊँचे से ऊँचे सोपान पर चढ़ सकता है। डाक्टर भांडारकर में मानसिक गुणों के साथ अध्यवसाय और श्रमशीलता का ऐसा संयोग हो गया था, जो बहुत कम देखने में आता है, और जो कभी विफल नहीं रह सकता।

इतिहास विषयक खोज और अनुसंधान में कोई भारतीय विद्वान् आपकी बराबरी नहीं कर सकता। संस्कृत साहित्य और व्याकरण के आप ऐसे प्रकांड पंडित थे कि यूरोप, अमरीका के बड़े-बड़े भाषाशास्त्री आपके सामने श्रद्धा से सिर झुकाते थे। प्राकृत भाषाओं का अब देश में नाम भी बाक़ी नहीं। पाली, मागधी भाषाओं को समझना तो दूर रहा, इनके अक्षर बाँचनेवाले भी कठिनाई से मिलेंगे। यूरोपीय विद्वानों ने इधर ध्यान न दिया होता, तो ये भाषाएँ अब तक नामशेष कर चुकी होतीं। भांडारकर प्राकृत भाषाओं के सर्वमान्य विद्वान् ही न थे, आपने उनमें कितनी ही खोजें भी की थीं। इतिहास, भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व की प्रत्येक शाखा पर डाक्टर

भांडारकर को पूरा अधिकार प्राप्त था। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय ने आपको 'डाक्टर' की उपाधि से सम्मानित किया था। सरकार ने भी के० सी० एस० आई० और 'सर' की उपाधियाँ प्रदान कर आपके पांडित्य का समादर किया।

डाक्टर भांडारकर के पिता एक छोटी तनख्वाह पानेवाले क्लर्क थे और इतनी सामर्थ्य न थी कि अपने लड़कों को अँगरेजी पढ़ने के लिए किसी शहर में भेज सकें। संयोगवश १८४७ ई० में उनकी बदली रत्नागिरी को हुई। यहाँ एक अँगरेजी स्कूल खुला हुआ था। बालक रामकृष्ण ने इसी स्कूल में अँगरेजी की पढ़ाई आरम्भ की और छः साल में उसे समाप्त कर एलफ़िन्स्टन कालेज बम्बई में भरती होने का हठ किया। बाप ने पहले तो रोकना चाहा, क्योंकि उनकी आमदनी इतनी न थी कि कालेज की पढ़ाई का खर्च उठा सकते, पर लड़के को पढ़ने के लिए बेचैन देखा तो तैयार हो गए। इस समय तक बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना न हुई थी, और उपाधियां भी न दी जाती थीं। मिस्टर दादाभाई नौरोजी उस समय उक्त कालेज में प्रोफ़ेसर थे। रामकृष्ण ने अपनी कुशाग्र बुद्धि और परिश्रम से थोड़े ही दिन में विद्यार्थी मंडल में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया और पढ़ाई समाप्त होने के बाद उसी कालेज में प्रोफ़ेसर हो गए। उसी समय आपको संस्कृत पढ़ने का शौक पैदा हुआ और अवकाश का समय उसमें लगाने लगे।

इसी बीच बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और

प्रोफ़ेसरों को ताकीद हुई कि वह बी० ए० की सनद हासिल कर लें, नहीं तो नौकरी से अलग कर दिये जाएँगे । डाक्टर भांडारकर ने अवधि के अन्दर ही एम० ए० पास कर लिया और हैदराबाद सिंध के हाईस्कूल के हेडमास्टर नियुक्त हुए। साल भर बाद अपने पुराने शिक्षा स्थान रत्नागिरी स्कूल की हेडमास्टरी पर बदल दिये गए । यहाँ उन्होंने संस्कृत की पहली और दूसरी पोथियाँ लिखीं, जो बहुत लोकप्रिय हुईं । अब तक इनके बीसों संस्करण हो चुके हैं । संस्कृत भाषा का अध्ययन इनकी बदौलत पहले की अपेक्षा बहुत सुगम हो गया और इनका इतना प्रचार है कि किसी आरम्भिक विद्यार्थी का बस्ता उनसे खाली न दिखाई देगा । दस साल तक आप एल्फ़िन्स्टन और डेकन कालेजों में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर की हैसियत से काम करते रहे । १८७९ में डाक्टर कीलहाने के पद-त्याग के अनन्तर डेकन कालेज में स्थायी रूप से प्रोफ़ेसर हो गए और तब से पेंशन लेने तक उसी पद पर बने रहे ।

डाक्टर भांडारकर ने पुरातत्व की खोज में विश्वव्यापक ख्याति प्राप्त कर ली है । उन्हें यह शौक क्योंकर पैदा हुआ, इसकी कथा बहुत मनोरंजक है, और उससे प्रकट होता है कि आप जिस काम को हाथ लगाते थे, उसे अधूरा नहीं छोड़ते थे । १८७० ई० में एक पारसी सज्जन को एक ताम्रपट हाथ लग गया । वह किसी पुराने खण्डहर में गड़ा था और उस पर प्राचीन काल की देवनागरी लिपि में कुछ खुदा हुआ था। उन्होंने उसे डाक्टर भांडारकर को दिया कि शायद उसके लेख

का कुछ मतलब निकाल सकें। डाक्टर साहब उस समय तक प्राचीन लिपियों से अपरिचित थे, अतः उस लिखावट को न पढ़ सके। पर उसी समय से प्राकृत लिपियों की जानकारी प्राप्त करने की धुन पैदा हो गई।

यूरोपीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में रास्ता बताने और दिखाने का ही काम नहीं किया है, उन्हें इसका उद्धारक भी समझना चाहिए। डाक्टर भांडारकर ने इस विषय पर अनेक पुस्तकें इकट्ठी कीं और बड़ी तत्परता के साथ अध्ययन में जुट गए। फल यह हुआ कि उन्होंने साल भर के भीतर ही उस अभिलेख का अर्थ ही नहीं लगा लिया, विद्वानों की सभा में उस पर मारके का भाषण भी किया। यही नहीं, इस विषय से उन्हें अनुराग भी उत्पन्न हो गया और खोज-अनुसंधान का कार्य आरंभ हो गया। प्राचीन इतिहास और पुरातत्व पर आपने कितने ही निवन्ध लिखे। प्राकृत भाषाएं और हमारे प्राचीन इतिहास की समस्याएँ एक-दूसरे से इस तरह गुँथी हुई हैं कि एक को जानना और दूसरे से अपरिचित रहना असंभव है। अतः डाक्टर भांडारकर ने प्राकृत पर भी भरपूर अधिकार प्राप्त कर लिया। १८७४ ई० में लन्दन में प्राच्य विद्या विशारदों का एक सम्मेलन हुआ। आपको भी निमंत्रण मिला। कुछ घरेलू अड़चनों से आप उसमें सम्मिलित न हो सके; पर एक खोजपूर्ण निबंध भेजा, जिसके व्यापक अन्वेषण की बड़ी सराहना हुई।

१८७६ ई० में प्रोफ़ेसर विलसन के स्मारक स्वरूप

प्राचीन भाषाओं के प्रचार के लिए एक वार्षिक व्याख्यान माला की व्यवस्था हुई और डाक्टर भांडारकर इस उच्च पद पर नियुक्त किए गए। कई अँगरेज़ विद्वानों के मुकाबले उन्हें तरजीह दी गई। भारत में वह इस पद के सबसे बड़े अधिकारी थे। अपनी सहज तत्परता और एकाग्रता के साथ वह इस काम में जुट गए और संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं पर उन्होंने जो व्याख्यान दिये, वह गंभीर गवेषणा और ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से बहुत दिनों तक याद किए जाएँगे। उनकी तैयारी में डाक्टर भांडारकर को कठोर श्रम करना पड़ा, पर ऐसी सेवाओं का जो अच्छे से अच्छा पुरस्कार हो सकता है, वह हाथ आ गया। विद्वानों ने दिल खोलकर दाद दी और सरकार को भी जल्दी ही अपनी गुणज्ञता का सक्रिय रूप में परिचय देने का अवसर मिल गया।

कुछ दिनों से यह विचार हो रहा था कि प्राचीन अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थों की खोज की जाए और उसका संग्रह ऐतिहासिक खोज और समीक्षा के लिए विद्वानों के सामने रखा जाए, क्योंकि ऐतिहासिकों का विचार था कि भारत में प्राचीन काल का इतिहास तैयार करने के मसाले की कमी नहीं है। वह जहाँ-तहाँ पुराने खंडहरों और निजी पुस्तकालयों में, आपत्काल में आत्मरक्षा के लिए छिपा पड़ा है। उसके अध्ययन से उस समय के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है; पर इन साधनों को ढूँढ़ निकालना सहज काम न था। यह गुरुकार्य डाक्टर भांडारकर को सौंपा गया। और उन्होंने जिस

योग्यता के साथ उसका संपादन किया, उसकी जितनी भी सराहना की जाय, कम होगी।

केवल बहुसंख्यक अप्रकाशित ग्रन्थ और लेख ही उन्होंने ढूंढ़ नहीं निकाले, उन पर विस्तृत गवेषणापूर्ण रिपोर्ट भी लिखी, जो पाँच बड़ी-बड़ी जिल्दों में पूरी हुई है। इस क्षेत्र में डाक्टर भांडारकर ने दूसरों के लिए रास्ता बताने और दिखाने का भी काम किया। उनके श्रम से औरों के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण का रास्ता साफ़ हो गया। इस काम में उन्हें कैसी-कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ा, इसे विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं। इस देश में जिस आदमी के पास भी कोई पुरानी पोथी है, चाहे वह प्रेमकथा ही क्यों न हो, वह उसे सोना-चाँदी बनाने का नुस्खा समझे बैठा है। और उस पर किसी दूसरे की निगाह पड़ जाना भी उसे सहन नहीं। ऐसे लोगों को मनाना डाक्टर भांडारकर का ही काम था। आज यह लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट विद्वानों और इतिहास-प्रेमियों के लिए आश्चर्य का विषय बन रही है। और संभवतः कुछ दिनों तक लोग उसे गंभीर अध्ययन, शुद्ध वर्गीकरण और ऐतिहासिक अन्वेषण का नमूना समझते रहेंगे।

१८८६ ई० में वियेना में प्राच्यविद्या के पण्डितों का सम्मेलन फिर हुआ। अबकी डाक्टर भांडारकर ने उसका निमत्रण स्वीकार कर लिया और इस यात्रा में यूरोप की स्थिति को बारीकी के साथ देखा-समझा। इसके एक साल बाद भारत सरकार ने उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान

कर उनकी विद्वत्ता का समादर किया। अध्ययन और अन्वेषण का यह कार्य जारी रहा। यहाँ तक कि पेंशन का समय आ पहुँचा और डाक्टर भांडारकर ने अवकाश ग्रहण कर पूने को अपना वासस्थान बनाया, पर देश को अभी उनकी सेवाओं की आवश्यकता थी। १९०१ में आप बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर बनाए गए, जो देश पर उनके सतत उपकारों को स्वीकार करना मात्र था।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त डाक्टर भांडारकर ने बांबे गजेटियर के लिए दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास लिखा, जो प्रत्येक दृष्टि से प्रामाणिक इतिहास कहा जा सकता है। वह घटनाओं की विस्तृत तालिका मात्र नहीं है; किन्तु उससे मुसलमानों के हमले के पहले की सामाजिक अवस्था, रीति-नीति और नियम-व्यवस्था का भी परिचय मिलता है। इस इतिहास का मसाला इधर-उधर बिखरा पड़ा था, उसे इकट्ठा करना विभिन्न घटनाओं का काल-निर्णय और इस 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' से सुसंबद्ध इतिहास का सुविशाल प्रासाद खड़ा कर लेना कठिन कार्य था।

सच तो यह है कि डाक्टर भांडारकर सहज विद्यानुरागी थे। ज्ञान से उन्हें उत्कट प्रेम था; एक प्यास थी, जो किसी प्रकार न बुझती थी। प्रकृति ने उन्हें खोज और जाँच-प[illegible] की असाधारण योग्यता प्रदान की थी। किसी प्रश्न [illegible] में लेते, तो उसकी समीक्षा में तल्लीन हो जाते [illegible] जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते। स्थूल

अन्वेषण प्रिय स्वभाव को सन्तोष न होता था। आधे मन से उन्होंने कोई काम नहीं किया और अपने शिष्यों में भी इस दोष को कभी सहन नहीं किया। शास्त्रार्थ और वादविवाद में भी वे बड़े पटु थे। वह साधक बाधक युक्तियों पर भली भाँति विचार करके तब कोई सिद्धान्त स्थिर करते थे और फिर समालोचना समीक्षा के तीखे से तीखे तीर भी उनका बाल बाँका नहीं कर सकते थे। पंडिताऊ हठ भी उनमें काफ़ी था और जब अड़ जाते, तो किसी तरह नहीं टलते थे। वह एक समय में एक ही विषय की ओर झुकते थे और अपने दिमाग की सारी ताक़त उसी में लगा देते थे। इसलिए जब कभी बहस की जरूरत होती, तो युक्ति-प्रमाण से पूरी तरह लैस होकर मैदान में उतरते थे।

अपने शिष्यों के साथ डाक्टर भांडारकर का बर्ताव बहुत ही सौजन्य और सहानुभूति का होता था। अच्छे गुरु का कर्तव्य है कि अपने शिष्यों का पथप्रदर्शक, मित्र और मंत्री हो। डाक्टर भांडारकर ने इस आदर्श को सदा सामने रखा। होनहार लड़कों को आप आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता भी दिया करते थे। उनके छात्रों को उन पर पूरा भरोसा रहता था और वह अपनी सब कष्ट-कठिनाइयों में उन्हीं से सलाह लेते और उस पर अमल करते थे। अधिकांश अध्यापकों की तरह वह अपनी जिम्मेदारियों की सीमा लेक्चर हाल तक ही नहीं मानते थे। विद्यार्थियों के लिए उनके मकान पर किसी समय रोकटोक न थी। एक सजीव उदाहरण से ज्ञान और

सदाचार-शिक्षा के जो उद्देश्य सिद्ध हो सकते हैं, वे उपदेशों के बड़े-बड़े पोथों से भी नहीं हो सकते ।

डाक्टर भांडारकर अपने छात्रों के लिए सहानुभूति, सौजन्य और स्वाधीनता के सजीव दृष्टान्त थे । और चूंकि यह गुण दिखाऊ नहीं, किन्तु सहज थे, इसीलिए विद्यार्थियों के मन पर अंकित हो जाते थे । संस्कृत के अध्यापकों को अकसर यह शिकायत रहती है कि विद्यार्थी और विषयों की तुलना में संस्कृत की ओर कम ध्यान देते हैं, यद्यपि संस्कृत की ललित पदावली और कोमल कल्पनाएँ उनके लिए मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करती हैं । डाक्टर भांडारकर को कभी यह शिकायत नहीं हुई । उनके व्याख्यान सदा तन्मयता के साथ सुने जाते थे । कुछ तो विषय पर उनका पांडित्यपूर्ण अधिकार और कुछ उनका सहज उत्साह तथा विनोदशीलता विद्यार्थियों का ध्यान चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लेती थी । आपके विद्यार्थियों में विरले ही ऐसे निकलेंगे, जिन्हें संस्कृत भाषा के माधुर्य का चस्का न पड़ गया हो ।

लोकव्यवहार में डाक्टर भांडारकर का ढंग स्वाधीनता और खरेपन का था । चापलूसी से उन्होंने कभी अपनी जबान को अपवित्र नहीं किया । और संभवतः कभी बाहरी बातों से दबकर अपने सिद्धान्त और व्यवहार में विरोध नहीं होने दिया । उनका जीवन प्रलोभनों से उतना ही निर्लिप्त रहा है, जितना मनुष्य के लिए संभव है । उनकी आत्मा को संभवतः किसी बात से इतनी चोट नहीं पहुँचती थी, जितनी उनके

चरित्र पर अनुचित आक्षेप होने से। उन्होंने कभी किसी का अनुग्रह प्राप्त करने की भावना नहीं की। ख्याति और सम्मान की आकांक्षा से सदा दूर रहे। यह वह कमजोरियाँ हैं, जो कभी-कभी सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को भी पदभ्रष्ट कर देती हैं; पर स्वाधीन और खरे स्वभाव पर इनका जादू नहीं चलता। फिर भी सरकार की कृपादृष्टि उनकी ओर अवश्य रही।

वह उच्चतम सम्मान और उपाधियाँ, जिनके लिए लोग तरसते रहते है, उन्हें बेमाँगे मिल गई। सी० आई० ई० तो पहले ही हो चुके थे। राज्याभिषेक उत्सव के अवसर पर के० सी० एस० आई० की उपाधि भी प्रदान की गई। सरकार का कृपापात्र बनने के लिए हमें अपने आत्मसम्मान और न्याय-प्रियता की हत्या करने की कदापि आवश्यकता नहीं, इसके लिए अगर प्रमाण की अपेक्षा हो, तो आपका उदाहरण इस का पर्याप्त प्रमाण है। जो लोग ऐसा समझते हैं—और उनकी गिनती अनगिनत है—वे केवल अपनी नासमझी का ही सबूत नहीं देते, सरकार की नीयत, न्याय और बुद्धि को भी बदनाम करते है। यद्यपि दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सरकार की अनुग्रह नीति कभी-कभी इस धारणा का पोषण करती हुई दिखाई देती है कि स्वाधीन वृत्ति और न्यायशीलता की उसके लिए कुछ अधिक आवश्यकता नहीं।

डाक्टर भांडारकर में एक बड़ा गुण यह था कि व स्वपांडित्य के अभिमान और पक्षपात से सर्वदा मुक्त थे। विद्वानों की तरह उन्होंने अपने समकालीन ऐतिहासिकों

पुरातत्वज्ञों के प्रति कभी अनादर का भाव नहीं रखा; किन्तु आरंभ से ही उनकी यह नीति रही कि दूसरों के मन में भी खोज और अन्वेषण की रुचि उत्पन्न करें, उनका उत्साह बढ़ाएं और परामर्श तथा पथप्रदर्शन से उनकी सहायता करते रहें, जिससे उनके बाद इस विषय से अनुराग रखनेवालों का टोटा न पड़े।

सारांश, डाक्टर भांडारकर का व्यक्तित्व भारत के लिए गर्व करने की वस्तु थी। आपने साबित कर दिया कि भारतवासी ज्ञान-विज्ञान के गहन अंगों में भी पाश्चात्य विद्वानों के कंधे से कंधा भिड़ाकर चल सकते हैं। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड सभी देशों के विद्वान् आपके भक्त हैं, और हमारे लिए, जिन्हें उनके देशवासी होने का गर्व है, उनका जीवन एक खुली हुई पुस्तक है, जिसमें मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है—'अध्यवसाय, व्यवस्था और ऊंचा लक्ष्य सफल जीवन के रहस्य हैं।' जस्टिस चंदावरकर ने, जिन्हें आपका शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, आपके विषय में लिखा है—

'(डाक्टर) सर भांडारकर ने विविध बाधाओं के रहते हुए भी अपने बर्तावों में कभी लगाव नहीं रखा। आपने सदा सत्य और न्याय का पक्ष लिया, पर सत्य पर मृदु मधुर शब्दों की चाशनी चढ़ाकर असत्यप्रिय जनों के अनुरंजन का यत्न नहीं किया। आप ब्रह्मसमाज के अनुयायी हैं और जात-पांत, छूत-छात के विभेद को राष्ट्रीयता का विरोधी और विघातक मानते हैं। भगवद्गीता और उपनिषद् आपके जीवन की पथप्रदर्शक

चरित्र पर अनुचित आक्षेप होने से। उन्होंने कभी किसी का अनुग्रह प्राप्त करने की भावना नहीं की। ख्याति और सम्मान की आकांक्षा से सदा दूर रहे। यह वह कमजोरियाँ है, जो कभी-कभी सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को भी पदभ्रष्ट कर देती हैं; पर स्वाधीन और खरे स्वभाव पर इनका जादू नहीं चलता। फिर भी सरकार की कृपादृष्टि उनकी ओर अवश्य रही।

वह उच्चतम सम्मान और उपाधियाँ, जिनके लिए लोग तरसते रहते हैं, उन्हें बेमांगे मिल गईं। सी० आई० ई० तो पहले ही हो चुके थे। राज्याभिषेक उत्सव के अवसर पर के० सी० एस० आई० की उपाधि भी प्रदान की गई। सरकार का कृपापात्र बनने के लिए हमें अपने आत्मसम्मान और न्यायप्रियता की हत्या करने की कदापि आवश्यकता नहीं, इसके लिए अगर प्रमाण की अपेक्षा हो, तो आपका उदाहरण इस का पर्याप्त प्रमाण है। जो लोग ऐसा समझते हैं—और उनकी गिनती अनगिनत है—वे केवल अपनी नासमझी का ही सबूत नहीं देते, सरकार की नीयत, न्याय और बुद्धि को भी बदनाम करते है। यद्यपि दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सरकार की अनुग्रह नीति कभी-कभी इस धारणा का पोषण करती हुई दिखाई देती है कि स्वाधीन वृत्ति और न्यायशीलता की उसके लिए कुछ अधिक आवश्यकता नहीं।

डाक्टर भांडारकर में एक बड़ा गुण यह था कि वह स्वपांडित्य के अभिमान और पक्षपात से सर्वदा मुक्त थे। अन्य विद्वानों की तरह उन्होंने अपने समकालीन ऐतिहासिकों और

पुरातत्वज्ञों के प्रति कभी अनादर का भाव नहीं रखा; किन्तु आरंभ से ही उनकी यह नीति रही कि दूसरों के मन में भी खोज और अन्वेषण की रुचि उत्पन्न करें, उनका उत्साह बढ़ाएं और परामर्श तथा पथप्रदर्शन से उनकी सहायता करते रहें, जिसमें उनके बाद इस विषय से अनुराग रखनेवालों का टोटा न पड़े।

सारांश, डाक्टर भांडारकर का व्यक्तित्व भारत के लिए गर्व करने की वस्तु थी। आपने साबित कर दिया कि भारतवासी ज्ञान-विज्ञान के गहन अंगों में भी पाश्चात्य विद्वानों के कंधे से कंधा भिड़ाकर चल सकते हैं। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड सभी देशों के विद्वान् आपके भक्त हैं, और हमारे लिए, जिन्हें उनके देशवासी होने का गर्व है, उनका जीवन एक खुली हुई पुस्तक है, जिसमें मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है—'अध्यवसाय, व्यवस्था और ऊँचा लक्ष्य सफल जीवन के रहस्य हैं।' जस्टिस चंदावरकर ने, जिन्हें आपका शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, आपके विषय में लिखा है—

'(डाक्टर) सर भांडारकर ने विविध बाधाओं के रहते हुए भी अपने बर्तावों में कभी लगाव नहीं रखा। आपने सदा सत्य और न्याय का पक्ष लिया, पर सत्य पर मृदु मधुर शब्दों की चाशनी चढ़ाकर असत्यप्रिय जनों के अनुरंजन का यत्न नहीं किया। आप ब्रह्मसमाज के अनुयायी हैं और जात-पाँत, छूत-छात के विभेद को राष्ट्रीयता का विरोधी और विघातक मानते हैं। भगवद्गीता और उपनिषद् आपके जीवन की पथप्रदर्शक

ज्योतियाँ हैं। यही आपके आध्यात्मिक समाधान और चित्त-शुद्धि के साधन हैं। मूर्तिपूजा में आपको विश्वास नहीं। वेदों, उपनिषदों या भगवद्गीता में आपको मूर्तिपूजा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। बहुत खोज के बाद आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दुओं ने यह प्रथा जैन और बौद्ध संप्रदायों से ली है। जैन और बौद्ध यद्यपि सगुण ईश्वर को नहीं मानते, पर विद्वज्जनों और सन्त-महात्माओं के देहावसान पर स्मारक रूप में उनकी प्रतिमा स्थापित किया करते थे। हिन्दुओं ने उन्हीं से यह रीति ली और उसी ने अब प्रतिमा-पूजन का रूप ग्रहण कर लिया है। फिर भी बहुत से शिक्षित हिन्दू मूर्ति पूजा पर ऐसे लट्टू हैं और उस पर उनका ऐसा दृढ़ विश्वास है, मानो यही हिन्दू धर्म का प्राण हो। सामाजिक विषयों में आप सुधारवादी हैं और व्यवहारतः इसका प्रमाण दे चुके हैं। मई सन् १८९१ ई० में आपने अपनी विधवा लड़की का पुनर्विवाह कर अपने नैतिक साहस का परिचय दिया, जो अपने देश के सुधारवादियों में एक दुर्लभ गुण है। जिस जाति में ऐसी महान् आत्माएँ जन्म लेती रहें, उसका भविष्य उज्ज्वल है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

बद्रुद्दीन तैयबजी

हिन्दुस्तान में मुसलमानों का प्रवेश दो रास्तों से हुआ। एक तो बिलोचिस्तान और सिन्ध की ओर से, दूसरा उत्तर पश्चिम के पहाड़ी मार्गों से। सिंध की ओर से जो मुसलमान आये, वे अरब जाति के थे और व्यापार करने आये थे। पश्चिमोत्तर दिशा से आनेवाले, अफ़गान या पठान जाति के थे और देश-विजय के उत्साह से प्रेरित होकर आये थे। अस्तु, बम्बई प्रान्त में अधिकतर अरब जाति के मुसलमान आबाद हैं, जिन्हें अपने व्यापार सम्बन्ध के कारण भारतवासियों के साथ बराबरी का नाता जोड़ने में कोई रुकावट न थी। पठान विजेता थे, इसलिए इस देश के निवासियों के साथ अधिक हिल-मिलकर रहना पसन्द न करते थे।

बद्रुद्दीन तैयबजी भी एक प्रतिष्ठित अरब कुल के सपूत थे, जो बहुत अरसे से बम्बई में आबाद था। उनके पुरखे तिजारत के सिलसिले में हिन्दुस्तान आये थे और बद्रुद्दीन के पिता तैयबजी भाई मियाँ एक सफल व्यापारी थे। यद्यपि वह धर्मनिष्ठ मुसलमान थे और उस ज़माने में वोहरों में अँगरेजी पढ़ना कुफ़ समझा जाता था, पर ऐसे निरर्थक बन्धनों को मान-कर अपने होनहार लड़के को अँगरेजी शिक्षा से वंचित रखना उन्होंने उचित न समझा, जो उनके दूरदर्शी और स्वाधीनचेता होने का प्रमाण है। बद्रुद्दीन की आरंभिक फारसी और अरबी

की पढ़ाई तो अरबी मदरसे में हुई, पर ज्यों ही इन भाषाओं में कुछ योग्यता हो गई, वह एलफ़िन्स्टन कालेज में भरती कर दिये गए और सोलह साल की उम्र में शिक्षा प्राप्ति के लिए इंग्लैंड भेज दिये गए, जहाँ से १८६७ ई० में बैरिस्टर होकर हिन्दुस्तान लौटे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य ख़राब था और आँखें भी कमज़ोर हो गई थीं, फिर भी उन्होंने पुरुषोचित दृढ़ता के साथ पढ़ाई जारी रखा और अन्त में सफल हुए। हिन्दुस्तान आकर उन्होंने बम्बई कोर्ट में वकालत शुरू की।

वकालत का आरंभिक काल उस समय भी कड़ी मेहनत का होता था, ख़ासकर बम्बई में, जहाँ बड़े-बड़े नामी वकील पहले ही से अपना सिक्का जमाए हुए थे, अपनी वकालत जमा लेना बद्रुद्दीन के लिए आसान काम न था। पर दस साल के अन्दर ही आप वहाँ के नामी वकीलों की गिनती में आ गए। इसके साथ ही आप देश के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन करते रहे, जो हर एक शिक्षित व्यक्ति का कर्त्तव्य है, जो अपने दिल में देश का कुछ दर्द रखता हो और उसकी भलाई चाहता हो। आप अच्छे वक्ता भी थे। राजनीतिक सभाओं में कई मारके की वक्तृताएँ कीं, जिनसे वक्तारूप से भी देश में प्रसिद्ध हो गए। आपको भाषण करने का (पहला) मौका १८७९ ई० में मिला, जब मैंचेस्टर से आनेवाले माल की चुंगी उठा दी गई और इस पर रोष प्रकाश के लिए बम्बई में जिम्मेदार व्यक्तियों की ओर से सार्वजनिक सभा की गई।

चूँकि बम्बई का वस्त्र-व्यवसाय अभी बच्चा था और

मैंचेस्टर व लंकाशायर से आनेवाले माल का मुक़ाबला न कर सकता था, इसलिए सरकार ने आरंभ में इस माल पर चुंगी लगा दी थी, जिसमें उसका भाव ऊँचा हो जाए और बम्बई के माल की खपत हो। परन्तु विलायत के व्यापारी इस कर का बराबर विरोध किया करते थे। उनके विचार से बम्बई का वस्त्र व्यवसाय अब इतना पुष्ट हो चुका था कि सरकार की ओर से उसे किसी प्रकार की सहायता मिलने की आवश्यकता न थी। इस मौके पर बद्रुद्दीन ने ऐसी प्रौढ़ युक्तिसंगत ज्ञानगर्भ वक्तृता की कि आँख रखनेवाले जान गए कि भारत के राजनीतिक आकाश में एक नए नक्षत्र का उदय हुआ।

वह समय भारत की राजनीति में बहुत दिनों तक याद किया जायगा। लार्ड रिपन उस समय हिन्दुस्तान के वायसराय थे, जिनसे अधिक साधु प्रकृति, सहानुभूति प्रवण और न्यायशील वायसराय यहाँ नहीं आया। उनका सिद्धान्त था कि बड़े-बड़े राज्य अपनी सेना और शस्त्रास्त्र के बल से नहीं जीवित रहते, किन्तु अपनी न्यायशीलता और अपने क़ानूनों के धर्म-संगत होने के बल पर जीते हैं। उस समय तक हिन्दुस्तान में स्थानीय आत्मशासन की व्यवस्था का अर्थात् म्युनिसिपल और जिला बोर्डों का जन्म न हुआ था। जिले का वह प्रबन्ध भी, जो अब जिला बोर्डों के हाथ में है, जिला मजिस्ट्रेट ही किया करता था। अपने अन्य कर्तव्यों के साथ-साथ शहर की रोशनी, सफ़ाई, सड़कों की मरम्मत, शिक्षा आदि के प्रबन्ध का भार भी उसी पर होता था। स्पष्ट है कि वह

इन कर्त्तव्यों का पालन तत्परता के साथ न कर सकता था, क्योंकि उसे और भी अनेक कार्य देखने पड़ते थे।

लार्ड रिपन ने लोकल सेल्फ गवर्नमेंट अर्थात् स्थानीय आत्मशासन का क़ानून जारी किया, जिसके अनुसार शहर और ज़िले का प्रबन्ध करनेवाली संस्थाओं की उत्पत्ति हुई। रिपन का उद्देश्य इस क़ानून से यह था कि भारतवासियों को नगर और ज़िले के प्रबन्ध का अधिकार प्रदान कर उन्हें इस योग्य बनाया जाए कि प्रान्त और देश के प्रबन्ध का भार भी उठा सकें। अब तो ये स्थानीय बोर्ड एक प्रकार से स्वाधीन है। अपनी आमदनी और खर्च पर उन्हे पूरा अधिकार है। जनता उसके लिए सदस्य चुनती है। बोर्ड के कर्मचारियों की नियुक्ति सदस्यों के निश्चय से होती है। अध्यक्ष का चुनाव भी बोर्ड ही-करता है। हाँ, सरकार इन बोर्डों की कार्यप्रणाली की निगरानी करती है। इस क़ानून के लिए हमें लार्ड रिपन के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यद्यपि अब भी स्थानीय बोर्ड कभी-कभी सरकार के कोपभाजन हो जाते हैं, पर आमतौर से वह उनके कार्यों में दखल नहीं देती।

लार्ड रिपन ही के समय अलवर्ट बिल भी पास हुआ। इस क़ानून में हिन्दुस्तानी अफ़सरों को अँगरेज़ों को दण्ड दे सकने का अधिकार दिया गया था। उस समय तक उन्हें यह अधिकार न था। इंग्लैंड में एक क़ानून है, जिसके अनुसार अँगरेज़ को अँगरेज़ 'जूरी' अथवा पंचायत ही सज़ा दे सकती है। हिन्दुस्तान में अँगरेज़ों की अच्छी खासी आबादी है; पर

कोई अँगरेज़ कितना ही बड़ा अपराध क्यों न करे, कोई हिन्दुस्तानी हाकिम उसके अभियोग का विचार नहीं कर सकता। जब कोई अँगरेज़ किसी अपराध में अभियुक्त होता था, तो अँगरेज़ों की एक पंचायत उसका मुक़दमा सुनने के लिए नियुक्त की जाती थी और मुक़दमे का एक फ़रीक़ जब हिन्दुस्तानी होता था, तो अकसर यह पचायत अभियुक्त की तरफ़दारी किया करती थी और हिन्दुस्तानियों के साथ अन्याय हो जाता था। इसके सिवा यह एक जातिगत भेद-भाव था, जिसे भारतीय अपना अपमान समझते थे।

वह कहते थे, जब हम एक देश के निवासी और एक राज्य की प्रजा हैं, तो सबके लिए एक कानून होना चाहिए। उनमें किसी प्रकार की भेद दृष्टि रखना उचित नहीं। लार्ड रिपन ने इस माँग को न्यायसंगत माना और उनके संकेत से कौंसिल के एक सदस्य सर कोर्टनी अलबर्ट ने यह बिल पेश किया तथा सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया। पर अँगरेजों को यह कब सहन हो सकता था कि वह अपने विशेष अधिकारों से वंचित हो जाएँ। वह अपने को इस देश का शासक समझते थे और भारतवासियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनका दावा था कि हम सभ्यता में, जाति में, वर्ण (रंग) में भारत में बसनेवालों से ऊँचे हैं और उनके शासक हैं। लार्ड रिपन के विरुद्ध उन्होंने जबरदस्त आंदोलन उठाया। अँगरेज़ी अखबारों में विरोध के लेख निकलने लगे। भाषणों में लार्ड रिपन पर खुली चोटें की जाने लगीं। अँगरेज़ों ने

सरकारी जलसों और दावतों में शरीक होना भी बन्द कर दिया। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने यह कुचक्र रच डाला कि लार्ड रिपन को पकड़कर ज़बरदस्ती जहाज पर सवार कराके लन्दन रवाना कर दिया जाए। अन्त में लार्ड रिपन को विवश हो, उस कानून में संशोधन करना पड़ा, जिससे उसका उद्देश्य ही एक प्रकार से नष्ट हो गया।

मिस्टर बद्रुद्दीन ने उस समय के राजनीतिक कार्यों में क्रियात्मक भाग लिया और कितने ही भाषण किए। शायद ही कोई ऐसी सभा होती थी, जिसमें वह न बोलते हों। उनकी वक्तृताएँ सदा साफ़, सुलझी हुई और न्याय का पक्ष लिये हुए होती थीं। सन् १८८१ ई० में बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स फ़र्गोनस ने आपको प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा का सदस्य मनोनीत किया और आपकी लोकसेवा का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया।

१८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। यह शिक्षित और मध्यम वर्गवालों की राजनीतिक संस्था थी, जिसका उद्देश्य राजनीतिक अधिकारों की माँग पेश करना था। बद्रुद्दीन इस संस्था के उत्साही कार्यकर्ता थे, और १८८७ ई० में उसके मद्रास वाले अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। उस अवसर पर उन्होंने जो अभिभाषण पढ़ा, उसमें ऐसी बहुदर्शित ओजस्विता और निर्भीक स्पष्टवादिता का परिचय दिया कि सुनने वाले दंग रह गए। मिस्टर बद्रुद्दीन केवल वचनवीर न थे, ठोस कामों में भी वह उसी उत्साह से योग देते थे।

१८७५ ई० में सर सैयद अहमद ने अलीगढ़ कालेज की नींव डाल दी थी, पर मुसलमानों में आमतौर पर उस समय नवीन ज्ञान-विज्ञान की ओर उपेक्षा का भाव था। मिस्टर बद्रुद्दीन, ने दिल खोलकर कालेज को आर्थिक सहायता दी और मुसलमानों में शिक्षा की उन्नति के लिए सब प्रकार यत्न करते रहे। कांग्रेस में मुसलमानों के सहयोग के सम्बन्ध में सर सैयद अहमद से आपका मतभेद था। सर सैयद का मत था कि मुसलमानों का कांग्रेस में शामिल होना ठीक नहीं है, क्योंकि शिक्षा में वह हिन्दुओं से पीछे हैं और कांग्रेस जिन सिद्धान्तों का प्रचार करती थी, उनके विचार से मुसलमानों को हिंदुओं की अपेक्षा अधिक हानि होने का डर था। बद्रुद्दीन तैयबजी, सैयद अहमद खाँ के इन सिद्धान्तों और विचारों के कट्टर विरोधी थे। उनका मत था कि भारतवासियों को संयुक्त रूप से सरकार के सामने अपनी माँग पेश करनी चाहिए। सारांश, इन मतभेदों के रहते हुए भी मिस्टर बद्रुद्दीन अलीगढ़ कालेज की सदा सहायता करते रहे।

१९०३ में जब अलीगढ़ में मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन हुआ, तो मिस्टर बद्रुद्दीन उसके सभापति चुने गए। इस सम्मेलन में परलोकगत नवाब मुहसीनुलमुल्क और बम्बई के गवर्नर लार्ड वेलिंगटन भी उपस्थित थे, और यद्यपि मिस्टर बद्रुद्दीन उस समय बम्बई हाईकोर्ट के जज और सरकारी नौकर थे, फिर भी आपने अत्यंत निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के साथ अपने राजनीतिक विचार प्रकट किए और

मुसलमानों को सलाह दी कि अगर वह अपने देश की भलाई चाहते हों, तो उन्हें कांग्रेस में सम्मिलित होकर उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिए। इस भाषण में आपने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी ज़ोरदार अपील की। आपका निश्चित मत था कि भारत में जब तक पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी शिक्षा न दी जाएगी, देश उन्नति के सोपान पर न चढ़ सकेगा। उन्होंने खुद अपनी लड़कियों को ऊँचे दरजे की अँगरेज़ी शिक्षा दिलाई थी, यद्यपि मुसलमानों में उस समय तक यह एक असाधारण साहस का कार्य था।

मिस्टर बद्रुद्दीन परदे के भी विरोधी थे और अपने घर की स्त्रियों को इस बंधन से मुक्त कर दिया था। उनका विचार था कि परदे से शारीरिक और मानसिक ह्रास होता है। आज सुशिक्षित मुसलमानों में परदे का बन्धन उतना कठोर नहीं है। लाहौर, देहली आदि नगरों में शरीफ़ज़ादियाँ बुरक़ा ओढ़े निस्संकोच बाहर निकलती हैं, पर उस समय प्रतिष्ठित महिलाओं का बाहर निकलना समाज में हँसी करना और लोगों के व्यंग बाणों का निशाना बनना था। इससे प्रकट होता है कि जस्टिस बद्रुद्दीन कितने दूरदर्शी और समय को पहचाननेवाले व्यक्ति थे।

हिन्दुस्तान में उस समय भी अँगरेज़ी फ़ैशन चल पड़ा था और आज तो वह इतना व्यापक है कि किसी कालेज या दफ्तर में चले जाइए, आपको एक सिरे से अँगरेज़ी फ़ैशनवाले ही लोग दिखाई देंगे। उनकी बातचीत भी अधिकतर अँगरेज़ी में

होती है। उन्हें न जातीय भाषा से कोई विशेष प्रेम है, न जातीय पहनावे से, न जातीय शिष्टाचार से। वे तो जातीय आचार-व्यवहार का विरोध करने में ही अपने सुधार के उत्साह का प्रदर्शन करते है। संभवत: उनका मन यह सोचकर प्रसन्न होता है कि कम से कम पहनावा, पोशाक और तौर तरीके में तो हम भी अँगरेज़ों के बराबर हैं। जातीय पहनावा उनके विचार में पुराण-पूजा-प्रमाण है। पर जस्टिस बद्रुद्दीन ने हाई-कोर्ट की जजी के उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने और अँगरेज़ी की ऊँचे दरजे की योग्यता रखने पर भी अपनी चालढाल नहीं बदली। अदालत की कुरसी पर हों या मित्रों की मंडली में, वही पुराना अरबी पहनावा बदन पर होता था।

जस्टिस बद्रुद्दीन बड़े ही स्वाभिमानी थे। अपने कर्तव्यों के पालन में वह सदा बहुत ही ऊँचा आदर्श अपने सामने रखते थे। अफ़सरों के प्रसाद के प्रलोभन या रोष के भय से वह कभी अपनी अन्तरात्मा का गला न घोंटते थे। कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेता स्वर्गवासी पंडित बालगंगाधर तिलक पर जब सरकार ने राजद्रोह का मुक़दमा चलाया और वह दौरा सिपुर्द हुए, तो उनके वकीलों ने उन्हें ज़मानत पर छोड़ने की दर्ख्वास्त दी। वह दर्ख्वास्त जस्टिस बद्रुद्दीन के इजलास पर पेश हुई। अधिकारियों का ख्याल मिस्टर तिलक की ओर से खराब था और इस 'सरकारी अपराधी' की ज़मानत मंजूर करना निश्चय ही सरकार की अप्रसन्नता का कारण होता। जस्टिस बद्रुद्दीन के लिए कठिन परीक्षा का प्रसंग था। आप न्यायासन पर

विराजमान थे और न्याय-नीति से तिल भर भी हटना आपको सहन न था। अतः आपने तिलकजी की ज़मानत मंजूर कर ली। सारे देश में आपकी न्यायनिष्ठा की प्रसिद्धि हो गई।

जस्टिस बद्रुद्दीन में स्वार्थ और स्वजाति का अभिमान कूट-कूटकर भरा हुआ था। अपनी उचित आलोचना सुनने में तो आपको आपत्ति न थी, पर इनका अपमान असह्य था। काजी कबीरुद्दीन साहब ने आपके जीवन वृत्तान्त का वर्णन करते हुए एक घटना लिखी है, जो आपके जातीय स्वाभिमान पर प्रकाश डालती है। एक बार वक़्फ़ (धर्मोत्तर सम्पत्ति) के मुकदमे में बम्बई के एडवोकेट जेनरल ने अदालत में कहा कि इस प्रश्न पर *'मोहन उनला'* में संभवतः कोई फ़ैसला नहीं है। जस्टिस बद्रुद्दीन इसको सहन न कर सके और बोले—'मिस्टर एडवोकेट जेनरल, यह कहने का साहस करना कि इस मामले पर व्यापक और सर्वाङ्गपूर्ण 'मोहन उनला' में कोई फ़ैसला नहीं है, इस पूजनीय विधान का अपमान करना है।' इस पर एडवोकेट जेनरल ने तुरंत माफ़ी माँगी और कहा कि 'मोहन उनला' में कोई फ़ैसला न होने से मेरा अभिप्राय केवल यह था कि मेरी पहुँच वहाँ तक नहीं है, अर्थात् उसका अँगरेजी में अनुवाद नहीं हुआ है।

एक दूसरे मौके पर एक अँगरेज बैरिस्टर ने किसी मुकदमे में कुछ यूरोपियन गवाह पेश करते हुए कहा—यह गवाह यूरोपियन होने के कारण दूसरे गवाहों की अपेक्षा, जो प्रतिष्ठित व्यापारी हैं, पर हिन्दुस्तानी हैं अधिक विश्वसनीय हैं। जस्टिस

बद्रुद्दीन ने तुरन्त बैरिस्टर साहब की जबान पकड़ी और बोले—क्या आप सोचते है कि हर एक अँगरेज हर एक हिन्दुस्तानी से स्वभावतः अधिक सत्यवादी और प्रामाणिक होता है ? ऐसा कहना अदालत का अपमान है । बैरिस्टर साहब बहुत ही लज्जित हुए ।

उस समय की इंडियन नेशनल कांग्रेस के आप सदा प्रशंसक और सहायक रहे । एक बार किसी बैरिस्टर ने कांग्रेस के विषय में कुछ अनुचित शब्द कहे । जस्टिस बद्रुद्दीन ने उनसे तो कुछ न कहा, पर मुकदमे का फैसला लिखते हुए कांग्रेस के प्रति अपने सद्भाव को दुहराया और लिखा—कांग्रेस वह प्रभावशालिनी संस्था है, जो राष्ट्र की आवश्यकताओं और अंगों का सर्वोत्तम प्रकार से प्रतिनिधित्व करती है ।

भारतवासियों की अव्यवस्थितता तो प्रसिद्ध ही है। समय का पालन ऐसा गुण है, जिससे साधारणतया हम वंचित हैं । किसी सभा-सम्मेलन में जाइए, वह अपने नियत समय से घंटे आध घंटे बाद अवश्य होगी। रेल की यात्रा ही को लीजिए। या तो हम दो ढाई घंटे पहले स्टेशन पर पहुँच जाते हैं या इतना कम समय रह जाने पर कि दौड़कर गाड़ी में सवार होना पड़ता है। जस्टिस बद्रुद्दीन वक्त की पाबन्दी का खास-तौर से ध्यान रखते थे । थोड़ा सा व्यायाम वह नित्य करते थे । कितना ही आवश्यक कार्य उपस्थित हो, इस काम में अन्तर न पड़ता था। हाँ, बीमारी की हालत में लाचारी थी। बल्कि जिस दिन काम की भीड़ अधिक होती थी, उस दिन

वह नित्य के समय से कुछ पहले ही व्यायाम आरम्भ कर देते थे। शाम को हाईकोर्ट से उठकर क्वींस रोड के छोर तक पैदल जाना उनका नित्य नेम था और इसमें उन्होंने कभी अन्तर नहीं पड़ने दिया। ऐसे नियमवद्ध और समान गति से चलने वाले दृष्टान्त जीवन में वहुत कम मिलते है।

११ अगस्त, १९०६ ई० को आप परलोकगामी हुए और भारत माता के ऐसे सपूत वेटे की यादगार छोड़ी, जिस पर वह सदा गर्व करेगी।

●

सर सैयद अहमद खाँ

क्या राजनीतिज्ञ रूप में, क्या साहित्यसेवी रूप में, क्या मौलिक नेता तथा सुधारक रूप में और क्या जातिसेवक रूप में, सर सैयद अहमद को जो अमरकीर्ति प्राप्त है, वह भारत की इसलामी दुनिया में शायद ही किसी अन्य पुरुष को प्राप्त हो। हममें से हर एक का कर्तव्य है कि इस श्रद्धेय पुरुष के जीवन वृत्तान्त का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें और इसकी खोज करें कि उनमें वह कौन से गुण थे, जिनकी बदौलत वह इतनी मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके और जाति की इतनी सेवा कर सके। उनकी अँगरेज़ी की योग्यता बहुत मामूली थी, वह घर के मालदार न थे, जाति में भी उनके समर्थकों की संख्या उनके विरोधियों से अधिक न थी। पर इन बाधाओं के होते हुए भी साहित्य-संसार और कर्मक्षेत्र दोनों में वह अपना नाम अमर कर गए। यह केवल जाति सेवा का उत्साह था, जिसने सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की थी।

सैयद अहमद खाँ ७ अक्टूबर, सन् १८१७ ई० को दिल्ली में पैदा हुए। उनकी शारीरिक शक्ति लड़कपन में भी असाधारण थी; बौद्धिक दृष्टि से उनकी गणना साधारण विद्यार्थियों में ही थी। उस समय कौन यह निश्चित रूप से कह सकता था कि एक समय आएगा, जब यह बालक अपने देश और जाति के लिए गर्व का कारण होगा। उनकी पढ़ाई भी साधा-

रण मुसलमान बच्चों की तरह कुरान शरीफ़ से शुरू हुई। उनकी उस्तानी एक भले घर की परदानशीन महिला थीं। इससे प्रकट होता है कि उस जमाने में शरीफ़ घरानों में बच्चों की शिक्षा स्त्रियों ही को सौंपी जाती थी। आज यूरोप में आरम्भिक कक्षाओं में प्राय: स्त्रियाँ ही अध्यापन कार्य करती हैं। अपनी सहज कोमलता, धैर्य, सहनशीलता और वात्सल्य आदि गुणों के कारण वह स्वभावत: बच्चों की शिक्षा के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं।

क़ुरान समाप्त करके सैयद अहमद खाँ ने फ़ारसी और अरबी की पढ़ाई प्रारम्भ की। १८-१९ बरस की उम्र में उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया; पर किताबें पढ़ने का शौक उन्हें आजीवन रहा। दिल्ली का साम्राज्य उस समय केवल एक मिटा हुआ निशान रह गया था। बादशाह लाल किले में किसी तकियादार फ़क़ीर की तरह रहता था और अंगरेज सरकार की पेंशन पर गुजर कर रहा था। बाबर और अकबर की संतति अब एक प्रकार से दिल्ली में क़ैद थी। सैयद अहमद के पिता शाही दरबार में नौकर थे, पर उनकी मृत्यु के ब तनख्वाह बन्द हो गई और सैयद अहमद खाँ को की चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने अंगरेज सरकार य स्वीकार कर ली और १८३९ ई० में आगरा नायब मुंशी नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने इतनी तत्प किया कि दो ही साल में मुंसिफ़ बना दिए गए में तैनात कर दिए गए। इसी समय उन्होंने

पुस्तक 'आसारुल सनादीद' लिखी, जिसमें दिल्ली की पुरानी शाही इमारतों का वर्णन बड़ी खोज और विस्तार के साथ दिया गया है। इस ग्रन्थ की गणना उर्दू भाषा के 'क्लासिक'— उत्कृष्ट स्थायी साहित्य में की जाती है।

सन् ५७ के ग़दर में सैयद अहमद ख़ाँ बिजनौर में मुन्सिफ़ थे। यह वह आपत्काल था, जब अँगरेज़ अफ़सर और उनके बीबी-बच्चे बाग़ियों के डर से आश्रय ढूँढ़ते फिरते थे। बाग़ी जिस अँगरेज़ को पा जाते, हद दरजे की बेदर्दी से क़तल कर डालते थे। उस समय बाग़ियों की मरज़ी के खिलाफ़ कोई काम करना खुद अपनी जान खतरे में डालना था, पर सैयद अहमद खाँ ने उस कठिन काल में भी न्याय का पक्ष लेने में संकोच न किया और विपद्ग्रस्तों की सहायता में डट गए, जो मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। उनकी कोशिश से कितने ही अँगरेज़ों की जान बच गई। बाग़ियों को उन पर संदेह हुआ। उन्होंने आपके मकान को घेर लिया, उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ दीं। यहाँ तक कि उनका मकान उनसे जबर्दस्ती खाली करा लिया और उनका माल-असबाब भी लूट लिया। सैयद अहमद खाँ ने धैर्य और दृढ़ता के साथ यह सारी मुसीबतें झेल लीं; पर जिन्हें शरण दी थी, उन्हें बाग़ियों के हवाले न किया। जब विप्लव शान्त हो गया और अँगरेज सरकार की सत्ता देश पर फिर स्थापित हुई, तो बाग़ियों के अपराधों की जाँच के लिए एक कमेटी बनाई गई और सैयद अहमद उसके सदस्य बनाए गए।

रण मुसलमान बच्चों की तरह कुरान शरीफ़ से शुरू हुई। उनकी उस्तानी एक भले घर की परदानशीन महिला थीं। इससे प्रकट होता है कि उस जमाने में शरीफ़ घरानों में बच्चों की शिक्षा स्त्रियों ही को सौंपी जाती थी। आज यूरोप में आरम्भिक कक्षाओं में प्रायः स्त्रियाँ ही अध्यापन कार्य करती हैं। अपनी सहज कोमलता, धैर्य, सहनशीलता और वात्सल्य आदि गुणों के कारण वह स्वभावतः बच्चों की शिक्षा के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं।

क़ुरान समाप्त करके सैयद अहमद खाँ ने फ़ारसी और अरबी की पढ़ाई प्रारम्भ की। १८-१९ बरस की उम्र में उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया; पर किताबें पढ़ने का शौक उन्हें आजीवन रहा। दिल्ली का साम्राज्य उस समय केवल एक मिटा हुआ निशान रह गया था। बादशाह लाल किले में किसी तकियादार फ़कीर की तरह रहता था और अँगरेज़ सरकार की पेंशन पर गुज़र कर रहा था। बाबर और अकबर की सन्तति अब एक प्रकार से दिल्ली में क़ैद थी। सैयद अहमद के पिता शाही दरबार में नौकर थे, पर उनकी मृत्यु के बाद तनख्वाह बन्द हो गई और सैयद अहमद खाँ को जीविका की चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने अंगरेज़ सरकार की नौकरी स्वीकार कर ली और १८३९ ई० में आगरा कमिश्नरी के नायब मुंशी नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने इतनी तत्परता से काम किया कि दो ही साल में मुंसिफ़ बना दिए गए और मैनपुरी में तैनात कर दिए गए। इसी समय उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध

पुस्तक 'आसारुल सनादीद' लिखी, जिसमें दिल्ली की पुरानी शाही इमारतों का वर्णन बड़ी खोज और विस्तार के साथ दिया गया है। इस ग्रन्थ की गणना उर्दू भाषा के 'क्लासिक'— उत्कृष्ट स्थायी साहित्य में की जाती है।

सन् ५७ के ग़दर में सैयद अहमद ख़ाँ बिजनौर में मुन्सिफ़ थे। यह वह आपत्काल था, जब अँगरेज़ अफ़सर और उनके बीबी-बच्चे बाग़ियों के डर से आश्रय ढूँढ़ते फिरते थे। बाग़ी जिस अँगरेज़ को पा जाते, हद दरजे की बेदर्दी से क़तल कर डालते थे। उस समय बाग़ियों की मरज़ी के खिलाफ़ कोई काम करना खुद अपनी जान खतरे में डालना था, पर सैयद अहमद खाँ ने उस कठिन काल में भी न्याय का पक्ष लेने में संकोच न किया और विपद्ग्रस्तों की सहायता में डट गए, जो मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। उनकी कोशिश से कितने ही अँगरेजों की जान बच गई। बाग़ियों को उन पर संदेह हुआ। उन्होंने आपके मकान को घेर लिया, उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ दीं। यहाँ तक कि उनका मकान उनसे ज़बर्दस्ती खाली करा लिया और उनका माल-असबाब भी लूट लिया। सैयद अहमद खाँ ने धैर्य और दृढ़ता के साथ यह सारी मुसीबतें झेल लीं; पर जिन्हें शरण दी थी, उन्हें बाग़ियों के हवाले न किया। जब विप्लव शान्त हो गया और अँगरेज़ सरकार की सत्ता देश पर फिर स्थापित हुई, तो बाग़ियों के अपराधों की जाँच के लिए एक कमेटी बनाई गई और सैयद अहमद उसके सदस्य बनाए गए।

उस समय इस बात का बड़ा डर था कि अपराधियों के साथ निरपराध भी न पिस जाएँ ? आक्रमण करनेवालों के साथ आत्मरक्षा में तलवार उठानेवाले भी सरकार के कोप-भाजन न हो जाएँ। सैयद अहमद इसी नेक इरादे से कमेटी में सम्मिलित हुए कि यथासम्भव निरपराधों की रक्षा करें। किसी निजी लाभ या पद-पुरस्कार की उन्हें कदापि कामना न थी। यहाँ तक कि जब एक बाग़ी मुसलमान रईस की बहुत बड़ी जायदाद ज़ब्त कर ली गई और सरकार ने उसे आपकी सेवाओं के पुरस्कार रूप में उन्हें प्रदान करना चाहा, तो उन्होंने उसे धन्यवाद के साथ लौटा दिया। एक विपद्ग्रस्त भाई की तबाही से लाभ उठाना उनके आनदार इसलामी स्वभाव ने स्वीकार न किया।

दो साल बाद सैयद अहमद खाँ ने 'असबाबे बगावते हिन्द' नाम की पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने तथ्यों और तर्कों से सिद्ध किया कि यह ग़दर न राष्ट्रविप्लव था, न आज़ादी की लड़ाई और न किसी तरह की साजिश; किंतु केवल सरकारी सिपाहियों ने अपने अफ़सरों की अवज्ञा की और वह भी अज्ञान और अंधविश्वासवश। चूंकि सरकार का खयाल था कि इस ग़दर को उभारनेवाले मुसलमान हैं, इसलिए इस पुस्तक का उद्देश्य यह भी था कि मुसलमानों के सिर से यह इलज़ाम दूर कर दिया जाए और इसमें संदेह नहीं कि सैयद अहमद खां को इसमें सफलता मिली। उन्होंने इस पुस्तक को भारत सरकार और पार्लमेण्ट में भेजा और

चूंकि सरकार को उनकी राजभक्ति और शुभचिन्तना पर पूरा भरोसा था, इसलिए उसने उनके दिखाए हुए कारणों और दलीलों पर ठंडे दिल से विचार किया और जो शिकायतें उसे ठीक मालूम हुईं, उनको दूर करने का वचन भी दिया। सैयद अहमद खाँ के इस नैतिक साहस की किन शब्दों में बड़ाई की जाए। जिस समय सरकार का रुख सख्ती करने का था और किसी को जबान खोलने की हिम्मत न होती थी कि कहीं उस पर भी बग़ावत का संदेह न किया जाने लगे, उस समय सरकार के रुख की आलोचना करना और उसकी भूलों का भंडाफोड़ करना देश और जाति की बहुमूल्य सेवा थी।

सैयद अहमद खाँ को जो काम सौंपा जाता था, उसे वह दिलोजान से पूरा करते थे। उनका सिद्धान्त था कि जो काम करना हो, उसे दिल से करना चाहिए। बेदिली से या बेगार समझकर वह कोई काम न करते थे। वह मुरादाबाद में थे, जब अवर्षण से फ़सल मारी गई और देश में भयानक दुर्भिक्ष उपस्थित हो गया। सरकार ने वहाँ एक खैरातखाना खोला और उसका प्रबन्ध सैयद अहमद खाँ को सौंपा। उस समय उन्होंने जितनी मुस्तैदी से अकाल पीड़ितों की सहायता की, पर्दानशीन महिलाओं और भूखों मरते सफेदपोशों को जिस हमदर्दी के साथ मदद पहुँचाई, उसकी यथोचित प्रशंसा नहीं की जा सकती। चाहे जिस धर्म या संप्रदाय का आदमी हो, सबके साथ उनकी एक सी सहानुभूति थी।

आजकल तो धार्मिक वादविवादों का जोर कुछ क॰

गया है; पर उस ज़माने में ईसाई पादरी, ईसाई मत के प्रचार के जोश में हिन्दू और मुसलमान मज़हबों पर खुलेआम आक्षेप किया करते थे और चूंकि उस समय आलिमों और पंडितों में यह योग्यता न थी कि वह शास्त्र-वचनों और धार्मिक परम्पराओं की युक्तिसंगत व्याख्या कर सकें और शब्दों के परदे में छिपे हुए अर्थ को स्पष्ट कर सकें, इस कारण ईसाई प्रचारकों के सामने वह निरुत्तर हो जाते थे और इसका जनसाधारण पर बहुत बुरा असर पड़ता था। सैयद अहमद खां ने पादरियों के इस हमले से इसलाम को बचाने के लिए यह आवश्यक समझा कि उनके आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब दिया जाए और कुरान और बाइबिल की तुलना करके दिखाया जाए कि दोनों धर्म-ग्रन्थों में कितनी समानता है। इसी उद्देश्य से उन्होंने बाइबिल की टीका लिखना आरंभ किया, पर वह पूरी न हो सकी। परन्तु नौकरी से पेंशन लेने के बाद जब उन्हें अवकाश और इतमीनान प्राप्त हुआ, तो उन्होने इस विचार को अपने महत्व-पूर्ण ग्रन्थ 'तफ़सीरुल कुरान' के द्वारा पूरा किया। इसलाम के सिद्धान्तों और शिक्षाओं पर दार्शनिक दृष्टि से किए जानेवाले आक्षेपों का बड़ी खोज और विवेचना के साथ जवाब दिया।

हिन्दू मुसलमान दोनों ही अशिक्षा और अज्ञान के कारण शास्त्र-वचनों और धर्म के साधारण विधि-निषेधों को आँख मूंदकर मानते थे। उन वचनों की युक्तिसंगत व्याख्या तो वह क्या करते, उनके मन में कोई शंका ही न उठती थी, क्योंकि शंका तो शिक्षा और जिज्ञासा का सुफल है। वह लोग

अपने पुरखों के पदानुसरण करने में ही सन्तुष्ट थे। धर्म एक रूढ़ि मात्र बन गया था, मानो प्राण निकल गया हो, देह पड़ी हो। इसी कारण हिन्दू मुसलमानों की आस्था अपने धर्म से हटने लगी थी। अँगरेजी शिक्षा के आरंभिक युग में कितने ही शिक्षित हिन्दू ईसाई हो गए। अन्त को राजा राममोहन राय को एक ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना आवश्यक जान पड़ी, जो पूर्णतया दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित हो, और उसमें वह सब सुविधाएँ और स्वाधीनताएँ प्राप्त हों, जो लोगों को ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट किया करती थीं और इस नए सम्प्रदाय का नाम ब्रह्म समाज रखा गया। इस सम्प्रदाय से जातपाँत, छूतछात, मूर्तिपूजा, तीर्थस्नान, श्रद्धा और वह सब विधि-विधान निकाल दिये गए, जिन पर ईसाइयों के आक्षेप हुआ करते थे। यहाँ तक कि उपासना-विधि बदल दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्प्रदाय ने हिन्दुओं में ईसाइयत की बाढ़ को बहुत कुछ रोक दिया।

इसके बहुत दिन बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की नींव डाली, जिसने पश्चिम भारत में वही काम किया, जो पूर्व में ब्रह्म समाज ने किया था। 'तफ़सीरुल कुरान' भी इसी उद्देश्य से लिखी गई कि नवयुवक मुसलमानों के मन में अपने धर्म के विषय में जो शंकाएँ उठें, उनका समाधान कर दिया जाए। पर मुसलमान इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही सैयद अहमद खाँ पर कुफ्र का फ़तवा लेकर दौड़े। उन पर नास्तिक, अनेकेश्वरवादी और प्रकृति पूजक होने का दोष

लगाया। देश में एक सिरे से दूसरे तक आग लग गई और जवाबी किताबों का सिलसिला शुरू हुआ। लेखक पर तरह-तरह के अनुचित और असंगत आरोप किए जाने लगे। कोई-कोई तो यह भी सोचने लगे कि सैयद अहमद खाँ विलायत जाकर ईसाई हो आये हैं और इसलाम को नष्ट करने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी है। बहुत दिनों के बाद यह कोलाहल शांत हुआ और आज 'तफसीरुल कुरान' तत्व-जिज्ञासुओं के लिए पथप्रदीप का काम कर रही है।

सैयद अहमद खाँ के जीवन का सबसे बड़ा कार्य मदरसतुल उलूम अलीगढ़ कालेज है, जो अब मुसलिम विश्व-विद्यालय का रूप प्राप्त कर उनका अमर स्मारक बन रहा है। मुसलमानों में निर्धनता और बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही थी और इस बाढ़ को रोकने के लिए उनमें पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार होना अत्यावश्यक था। मदरसतुल उलूम ने इस अभाव की बहुत अच्छी तरह पूर्ति कर दी। पर उस समय लोग पश्चिम की शिक्षा-दीक्षा से ऐसे भड़क रहे थे कि उन्हें डर था कि कहीं हमारा धर्म भी हमारे हाथ से न चला जाए और फिर हम कहीं के न रहें। पर सर सैयद अपने संकल्प में दृढ़ थे। उन्होंने इस विचार से इंग्लैंड की यात्रा की कि वहाँ के प्राचीन विश्वविद्यालयों के संगठन और व्यवस्था का अध्ययन करें और उसी नमूने पर हिन्दुस्तान में अपने कालेज की स्थापना करें। १ अप्रैल सन् १८६९ ई० को वह विलायत के लिए रवाना हो गए। लंदन में जिस ठाट

से उनका स्वागत किया गया और जितनी आवभगत हुई, उसने उन्हें सदा के लिए अँगरेज़ों के साथ प्रेमबंधन में बाँध दिया। करीब दो साल तक वहाँ के कालेजों के प्रवन्ध का वारीकी से अध्ययन करने के बाद वह भारत लौटे और 'मदरसतुल उलूम' के उद्‌घाटन की तैयारी करने लगे।

इस उद्देश्य की सिद्धि और मुसलमानों में साहित्य और विद्या की सम्यक् रुचि उत्पन्न करने के विचार से उन्होंने 'तहज़ीवुल अखलाक़' नामक मासिक पत्र निकाला। पर आलिमों की मंडली ने इस पत्र का विरोध आरम्भ किया और मुसलमान जनता को कालेज के उद्योग की ओर से भड़काने लगे। शायद कुछ लोगों ने सोचा हो कि यह इंग्लैंड से अपना धर्म खोकर आये हैं; पर सर सैयद ने हिम्मत न हारी और लगातार ५ साल के अथक उद्योग से १८७५ ई० में अलीगढ़ में मदरसतुल उलूम का उद्‌घाटन हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस संस्था की स्थापना से मुसलमानों का जितना अभ्युदय हुआ, और किसी तरह उतना न हो सकता था। आज मुसलिम विश्वविद्यालय मुसलमानों का जातीय स्मारक है और उसके विद्यार्थी हिन्दुस्तान के कोने-कोने में उसका झण्डा लिये घूम रहे हैं।

सैयद अहमद खाँ का खयाल हिन्दुओं की ओर से महज़ इस बात पर खराब हो गया कि १८६७ ई० में संयुक्त प्रान्त में हिन्दुओं की ओर से यह कोशिश हुई कि नागरी इस सूबे की अदालती भाषा बना दी जाए। सैयद अहमद खाँ

ने इसे हिन्दुओं की ज्यादती समझा, यद्यपि यह उद्योग केवल जन साधारण के सुभीते की दृष्टि से आरम्भ किया गया था। स्पष्ट है कि जिस सूबे में हिन्दुओं की आबादी ८० प्रतिशत से भी अधिक हो और उसमें अधिकतर लोग देहात के रहनेवाले, उर्दू से अपरिचित हों, वहाँ उर्दू का अदालती भाषा होना खुला अन्याय है। मुट्ठी भर उर्दूदां लोगों के लाभ या सुभीते के लिए जनता के बहुत बड़े भाग को असुविधा और खर्च उठाने को बाध्य करना किसी प्रकार उचित नहीं; और इस आंदोलन का यह उद्देश्य न था कि उर्दू एकबारगी मिटा दी जाए। पर सर सैयद के मन में यह शंका बस गई कि हिन्दू मुसलमानों को नीचा दिखाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ और भी कारण उपस्थित हों, जिनसे इस धारणा की पुष्टि हुई हो कि हिन्दू मुसलमान का मेल और एका अनहोनी बात है। दोनों जातियों में ऐतिहासिक और धर्मगत विलगाव पहले से ही मौजूद थे। मुग़ल साम्राज्य की समाप्ति और अँगरेज़ी राज्य की स्थापना ने इन विरोधों को मिटाना और पुराने भावों को भरना आरम्भ ही किया था कि यह नए झगड़े उठ खड़े हुए और संयुक्त राष्ट्रीयता का लक्ष्य सुदीर्घकाल के लिए हमारी आँखों से ओझल हो गया।

धर्म-संप्रदायों के मतभेदों का सक्रिय शत्रुता के रूप में परिवर्तित हो जाना कितना आसान है, यह हम आये दिन आँखों से देख रहे हैं। आज ज़रा-ज़रा-सी बातों पर, जिनका

सिद्धान्त की दृष्टि से कोई महत्व नहीं, आपस में मारकाट मच जाती है और राष्ट्र की शक्ति का एक बड़ा भाग इस गृहकलह के अग्निकुंड में स्वाहा हो जाता है। ऐसा कोई साल नहीं जाता, जब दो-चार स्थानों में लोमहर्षण साम्प्रदायिक दंगे न हो जाते हों। कितने दुःख की बात है कि उस समय उभय पक्ष की अनुदारता और अदूरर्शिता ने आपस के उस मेल-मिलाप और सहिष्णुता के रास्ते में रोड़े अटका दिये, जिसकी नींव पर ही संयुक्त राष्ट्रीयता की इमारत उठाई जा सकती है। संभव है, सर सैयद ने इस विचार से कि मुसलमान पहले इस देश पर राज्य कर चुके हैं, उनके साथ कुछ विशेषता प्रदर्शन की आवश्यकता समझी हो, पर हिन्दू समान पद से अधिक और किसी रिआयत के लिए तैयार न थे।

सर सैयद ने उस समय उदारता से काम लिया होता, तो हिन्दुस्तान की हालत कुछ और होती। पर उन्होंने तात्कालिक और निकट भविष्य के लाभों को स्थायी और राष्ट्रीय हितों पर प्रधानता दी। शासित हिन्दुओं की अपेक्षा शासक अँगरेज़ों से मेल रखना कहीं अधिक लाभजनक था। सरकार के हाथ में अधिकार थे, पद थे और उन्नति के अपरिमित साधन थे। हिन्दुओं की दोस्ती में परस्पर मिलकर रोने के सिवा और क्या धरा था? सर सैयद का यह विचार-परिवर्तन उस समय और भी स्पष्ट हो गया, जब वह विलायत गये। वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा, उससे इस नतीजे

पर पहुँचे कि मुसलमानों का हित अँगरेज़ों से मेल रखने में है, और इस प्रकार उस कार्यप्रणाली की नींव पड़ी, जो दिन-दिन अधिकाधिक भयावह रूप ग्रहण करती जा रही है। यहाँ तक कि आज उसने आपस के मेल-मिलाप को ही असंभव नहीं बना दिया है, देश के वायुमंडल को भी विषाक्त कर दिया है। देश दो परस्पर विरोधी भागों में विभक्त हो गया है और उसका घातक प्रभाव आपस की मारकाट के रूप में प्रकट होता है। दोनों पक्ष एक तीसरी शक्ति का अधिकारारूढ़ रहना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य और आवश्यक समझते हैं। सर सैयद जैसे प्रभावशाली और प्रगतिशील पुरुष ने संयुक्त राष्ट्रीयता का पक्ष ग्रहण किया होता, तो आज हिन्दुस्तान कहीं से कहीं पहुँचा होता। गन्दे गढ़े के कीटाणु ऐसे सख़्तजान होते हैं कि एक बार जहाँ पुष्ट हुए कि फिर उनका नाश असम्भव हो जाता है। अतः उस समय से अब तक मेल और एका के जितने यत्न किए गए, सब विफल हुए। एकता और मेल की मंजिल आज भी उतनी ही दूर है।

सर सैयद में आदमियों को पहचानने की स्वाभाविक शक्ति थी और जिस व्यक्ति के प्रति एक बार उनकी अच्छी धारणा हो गई, फिर उसके विरुद्ध कोई शिकायत न सुनते थे। मेहनत का यह हाल था कि अकेले जितना दिमाग़ी काम कर सकते थे, उतना कई आदमी मिलकर भी न कर सकते थे। बहुत ही हँसमुख, मुरौवतदार, उदारमना और सुवक्ता

थे। उनकी वाणी में मोहिनी थी, सुननेवाले मन्त्रमुग्ध-से हो जाते थे। उनका कहना था कि किसी महत्कार्य की सिद्धि के लिए विद्वत्ता की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी अनुभव और अवसर पहचानने की योग्यता की। विरोधी भी उनके सामने जाकर सहायक बन जाता। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि उससे प्रभावित न होना असंभव था।

सर सैयद ने उर्दू भाषा की जो सेवा की, उसकी सराहना किन शब्दों में की जाए। यों कहना चाहिए कि उर्दू उन्हीं के आश्रय में पाली-पोसी गई। उस समय तक उर्दू मे शायरी का बाज़ार गर्म था। साहित्य पद्य रचना और कवि चर्चा तक सीमित था। उसमें न गहराई थी, न ऊँचाई। कठिन विषयों की चर्चा और गंभीर भावों को व्यक्त करने की उसमें योग्यता न थी। ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और शास्त्रीय विषयो पर उसे अधिकार न था। सर सैयद ने इन विषयों पर 'तहज़ीबुल अखलाक़' में जो निबंध लिखे, वह उर्दू के 'क्लासिक'—स्थायी साहित्य हैं। उनके शब्द-शब्द से गम्भीर अध्ययन, मानव प्रकृति का सूक्ष्म परिचय और शास्त्रीय विषयों का पांडित्यपूर्ण आलोचन टपक रहा है। कहने का ढंग इतना सीधा-सादा है कि साधारण विद्या-बुद्धि का मनुष्य भी अनायास समझ ले। न पेचदार पदविन्यास, न उलझे हुए वाक्य, न क्लिष्ट शब्दावली। क्लिष्ट से क्लिष्ट भावों को इतनी सरलता से व्यक्त कर जाते हैं कि देखकर दंग रह जाए। यद्यपि ये निबन्ध सबके सब उनके दिमाग़ से नहीं

निकले हैं, बेकन, एडिसन और कई अन्य साहित्यकारों के भावों की छाया ग्रहण की गई है, पर कहने का ढंग उनका अपना है और उसने निबन्धों में नयापन पैदा कर दिया है। उनकी साहित्य-सेवा के पुरस्कार स्वरूप सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान कर अपनी गुणज्ञता का परिचय दिया।

आयु के अन्तिम भाग में लगातार बीमारियों के कारण सर सैयद बहुत कमजोर हो गए थे। पर उस अवस्था में भी जाति पर मिटा हुआ यह महापुरुष उसी उत्साह से जाति-सेवा में जुटा हुआ था। अन्त को १८९८ ई० की ७वीं मार्च को महाप्रस्थान का संदेश आ गया और उसने अपने जीवन के अनेक अमर स्मृति चिह्न छोड़कर इस नश्वर जगत् से कूच किया।

मौ० अब्दुल हलीम 'शरर'

मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' के पिता हकीम तफ़ज्जुल हुसैन साहब साधुप्रकृति, धर्मनिष्ठ मुसलमान थे। हनफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायी, सूफी सिद्धान्तों के माननेवाले, लखनऊ के झँवाई टोले में रहते थे। इसी मकान में ग़दर के दो साल बाद १७ जमादी उस्सानी सन् १२७५ हिज्री को दो बजे सुबह मौलाना शरर ने जन्म लिया।

हकीम तफ़ज्जुल हुसैन मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे और शाही मुंशियों में नौकर थे। फिर भी लड़के को पढ़ाने-लिखाने की पूरी कोशिश की। छः साल की उम्र में मौलाना की पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। साल भर तक माता के पास पढ़ते रहे और क़ुरान का एक पारा भी समाप्त न हुआ। बचपन में वह बड़े ही नटखट थे। माता ने एक बार किसी बात पर क्रुद्ध होकर मारा, तो इन्होंने गुस्से में उनकी उँगली चबा ली। मौलाना आठ बरस के हुए, तो उनके पिता कलकत्ते में मुंशी उस्सुलतान के दफ्तर में नौकर होकर वहाँ जाने लगे और इन्हें भी साथ लेते गए। वहीं उनकी पढ़ाई होने लगी। पहले हाफिज इलाहीबख्श से साल भर में कुरान समाप्त किया। फिर दो बरस में 'मैयते आमिल', 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' पढ़ी। मुल्ला बाक़र से 'हिदायतुलनही,' 'काफ़िया', और 'मुल्लाजामी' का अध्ययन किया। मुंशी अब्दुल लतीफ़

से 'शहर वक़ाया' और खुश नवीसी (लिपि कला) सीखी। मौलाना तबातबाई से भी कुछ अरबी की किताबें निकालीं। हकीम मसीह से हकीमी पढ़ी और १५ साल की उम्र में शाही मुंशियों में अपने पिता की जगह पर नौकर हो गए।

उनके पिता लखनऊ चले आये। उस समय मौलाना का उठना-बैठना शाही खानदान के युवकों के साथ था और सुहबत के असर ने कुछ रंग बदला, तो उनके पिता ने उनको लखनऊ बुलवा लिया। यहाँ आकर मौलाना अब्दुलहई के शागिर्द मौलवी अब्दुल बारी से दर्शन की पुस्तकें पढ़ीं और मौलाना अब्दुलहई से भी कुछ अध्ययन किया। लखनऊ से देहली गये और मौलाना नज़ीद हुसेन साहब से हदीस की पुस्तकें पढ़ीं तथा अब्दुलवहाब नज्दी की 'तौहीद' नामक पुस्तिका का उलथा किया। देहली से खासे तर्कवादी बनकर लखनऊ आ गए। यहाँ आपके पिता ने हकीम सादुद्दीन की बेटी से ब्याह तै कर रखा था, सो लखनऊ आते ही शादी हो गई। अब मौलाना "अवध अखबार" में ३० रु० मासिक पर नौकर हो गए। कुछ अंगरेज़ी भी सीख ली थी। शायरी का शौक़ पैदा हुआ। उस ज़माने में मुन्शी अमीर अहमद मीनाई की शायरी की बड़ी धूम थी, उन्हीं के शागिर्द हुए और 'शरर' (चिनगारी) उपनाम रखा।

"अवध अखबार" में 'शरर' के लेखों ने एक हलचल डाल दी। लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे। इस नौकरी के सिलसिले में कई बार हैदराबाद जाने का संयोग हुआ और

नवाब वक़ारुल उमरा तक पहुँच हो गई। मौलाना के पिता भी उस समय हैदराबाद में ही नौकर थे और बुढ़ौती में पेंशन ले ली थी। मौलाना यद्यपि "अवध अखबार" में नौकर थे और लेख लिखा करते थे, फिर भी आपको मित्र मंडली में बैठने और गपशप का समय मिल जाता था। उनके एक दोस्त मौलवी अब्दुलबासित कुरसी के रहनेवाले, बड़े बात के धनी, आत्मसम्मानी, वीर और लकड़ी की कला में उस्ताद थे। उनके नाम से "महशर" नामक मासिक पत्र निकाला, जिसका दफ्तर चौक बज़ाज़ा में कायम किया। वहीं मौलवी साहब की भी बैठक जमने लगी। मौलवी हिदायत रसूल उनके महल्ले के रहनेवाले और दोस्त थे। अकसर वह भी साथ रहते थे। लाला रौशनलाल खत्री थे, जो मुसलमान हो गए थे, वह भी उसी गुड्डे के यार थे। मौलवी मासूमअली भी उसी मंडली के थे, पर अपनी सभ्यता और मौलवीपन के अभिमान के कारण गोष्ठी में निस्संकोच सम्मिलित न होते थे! "मशहर" की अच्छी ख्याति हुई; पर मौलाना के मनमौजीपन के कारण वह भी बन्द हो गया।

ब्याह के दो बरस बाद मौलाना को चिन्ता हुई कि जीविका का कोई स्थायी उपाय निकालें, अतः "अवध अखबार" से अलग होकर 'दिल गुदाज़' नाम से अपना मासिक पत्र निकाला। उसका आधा भाग काल्पनिक लेख होते थे, दूसरा उपन्यास। आपका पहला उपन्यास 'दिलचस्प' है। उस जमाने में उर्दू में एक उपन्यास लेखक मौलवी साहब थे,

दूसरे पंडित रतननाथ 'सरशार' कश्मीरी । 'सरशार' ने मस्ताना रंग अख्तियार किया। उनका मतलब यह था कि मेरा उपन्यास आम लोगों में दिलचस्पी से देखा जाए। इसलिए उन्होंने दोस्ताने अमीर हमजा का अनुमरण करके नायक 'आज़ाद' को वीर, मनमौजी, स्वच्छन्द, आशिकमिज़ाज, चालाक ठहराया और बदीउज्ज़मां अफ़ीमची को वख्तक का रूप दिया और उस पर निर्लज्जता का अन्त कर दिया। यह रंग ऐसा जमा कि उस समय के समाज ने हाथों-हाथ लिया।

मौलाना ने देखा कि इस रंग के सामने कोई नया रंग जमाना कठिन है। अतः उन्होंने रिन्दाना या मस्ताना रंग 'सरशार' के लिए छोड़ दिया और अपने लिए एक नया रास्ता निकाला। इसलाम और अरव की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर मुसलमानों की सम्यता, संस्कृति, साहस, धर्मनिष्ठता, उदारता, साहित्यसेवा, वजेदारी आदि को अँगरेज़ी के ढँग पर लिखना आरम्भ किया।

'दिलचस्प' को आकर्षक रंग रूप दिया। मलिकुल अज़ीज उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि आम और खास, रिन्द और मौलवी सबने उसको पढ़ा और गहरी दिलचस्पीसे देखा। 'मंसूर मोहना' को लोगों ने आँखों पर जगह दी। दुर्गेशनन्दिनी, हसन अजीलना बहुत लोकप्रिय हुए। हिन्दुस्तान का कोई शिक्षित मुसलमान ऐसा न था, जिसने मौलाना के उपन्यास न पढ़े हों। यहाँ तक कि कुछ ऐसे आलिम भी, जिन्हें नाविल के नाम से चिढ़ थी, मौलाना की रचनाओं का पढ़ना पुण्य-

जनक कार्य समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा और भाव में इतनी सभ्यता और गंभीरता थी कि सारे हिन्दू मुसलमान समाज में उनकी शैली लोकप्रिय हुई। सब सुसंस्कृत लोगों ने उनकी पुस्तकों को अपने पुस्तकालयों में सादर स्थान दिया और उनके अवतरण पाठ्य-पुस्तकों में दिये जाने लगे।

'दिलगुदाज़' अभी पूरे दो वरस भी न निकलने पाया था कि नवाब वक़ारुलमुल्क ने मौलाना को बुलाकर अपने लड़कों के साथ इंग्लैंड भेज दिया। डेढ़ वरस के बाद मौलाना इस यात्रा से लौटे, तो कुछ ही दिनों के बाद नवाब वक़ारुलमुल्क पदच्युत होगए और महाराज किशुनप्रसाद वज़ीर हुए। लाचार मौलाना फिर लखनऊ लौट आये और 'दिलगुदाज़' फिर जारी हुआ। इसके सिवा भी मौलाना ने कुछ उपन्यास लिखकर 'पयामेयार' के संपादक को उचित पुरस्कार लेकर दिये।

लोग कहते हैं कि आरम्भ में मौलाना ने अनेक पत्रों में पारिश्रमिक लेकर काम किया और एक दैनिक पत्र में जो अनवार मुहम्मदी प्रेस से मुंशी मुहम्मद तेग़बहादुर के प्रबन्ध से निकलता था, कई लेख लिखे। 'सहीफ़एनामी' नामक पत्र में भी, जो नामी प्रेस लखनऊ से निकलता था, कुछ काम किया।

पहली स्त्री से मौलाना के दो लड़के और दो लड़कियाँ थीं। बड़े लड़के मुहम्मद सिद्दीक हसन की पढ़ाई एंट्रेंस तक हुई। छोटे लड़के मुहम्मद फ़ारूक उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और मौलाना के दफ्तर का काम अच्छी तरह सँभाल लिया था, पर १८ वरस की उम्र में वीमार होकर चल वसे। इसका

मौलाना के हृदय पर कुछ ऐसा आघात पहुँचा कि बहुत दिनों तक काम बन्द रहा। इसके बाद एक लड़की की भी मृत्यु हो गई।

५० वर्ष की अवस्था में मौलाना ने दूसरा व्याह किया, जिसके बाद वे फिर हैदराबाद गये और वहाँ शिक्षा-विभाग के उपाध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं से 'दिलगुदाज़' निकालने लगे और *'तारीखे़सिंध'* लिखी, जिस पर निज़ाम की सरकार से पाँच हज़ार रुपया इनाम मिला। कुछ दिन बाद हैदराबाद से सम्बन्ध विच्छेद कर लौट आये और 'हमदर्द' के दफ्तर में अच्छी तनख्वाह पर नौकरी करके देहली तशरीफ़ ले गये, पर वहाँ का समाज इन्हें न रुचा और साल भर के अन्दर ही वहाँ से चले आये। हैदराबाद से फिर बुलावा आया। १०० रु० माहवार तो वहाँ से पेंशन मिलती थी। ४०० रु० मासिक पर इसलाम का इतिहास लिखने पर नियुक्त हुए। मगर इस बार मौलाना हैदराबाद में न टिके, निज़ाम की इजाजत लेकर लखनऊ लौट आये और पाँच बरस तक इस काम में लगे रहे। निज़ाम सरकार ने इस इतिहास को पसन्द किया। इस बीच 'दिल गुदाज़' ने बड़ी उन्नति की और हर साल एक नया उपन्यास भी पाठकों को मुफ़्त मिलने लगा।

दूसरे महल से मौलाना के दो लड़के और दो लड़कियाँ है; जिनमें सबसे छोटी एक लड़की है। मौलाना जिस समय हैदराबाद में शिक्षा-विभाग के उपाध्यक्ष थे, वहाँ एक उपन्यास परदे की बुराइयों पर लिखा था। फिर लखनऊ में आकर 'परदए असमतन' निकाला, जिसके संपादक हसनशाह थे। इस

बीच एक अप्रिय विवाद भी छिड़ गया। स्वर्गवासी पंडित ब्रज नारायण चकबस्त ने मसनवी 'गुलज़ारे नसीम' का एक नया संस्करण निकाला। उसकी प्रस्तावना में 'नसीम' की बड़ाई और दूसरे कवियों की निन्दा का पहलू निकलता था। मौलाना ने उसकी समालोचना की और इसी सिलसिले में मसनवी के कुछ दोषों की चर्चा की। इसका जवाब 'अवध पंच' ने अपने खास ढंग में दिया, जिसके बाद मौलाना ने 'ज़रीफ़' नाम का पत्र निकाला और 'पंच' के ही रंग में प्रत्युत्तर लिखा। 'ज़रीफ़' के संपादक मुंशी निसार हुसैन थे। यह बहस आठ महीने तक जारी रही। दोनों पक्ष से बड़ा खंडन-मंडन होता रहा। फिर मौलाना ने 'अल्इरफ़न' नाम का मासिक-पत्र निकाला, जिसके संपादक हकीम सिराजुल हक़ थे। इसमें भी सब लेख मौलाना के ही होते थे, पर यह रिसाला बहुत ही कम दिन जिया।

मौलाना की सभी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं और इतनी हुईं कि 'सर्वाधिकार संरक्षित' होने पर भी कितने ही छापाखानों ने 'शहीदे वफ़ा', 'मलिकुल अजीज़ वर्जना', 'मंसूर मोहना', 'दुर्गेशनंदिनी', 'दिलचस्प', 'दिलकश', 'फ़िरदौसे बरीं', 'फ़्लोरा फ़्लोरंडा' बार-बार छापकर लाभ उठाया। उन्होंने इतने ही पर सन्तोष नहीं किया। 'हुस्न का डाकू' और 'दरबारे हरामपूर' को बदलकर, बिगाड़कर, आकार और मूल्य घटाकर, घटिया काग़ज़ पर छापकर लोगों को धोखा दिया और नफ़ा कमाया। यों तो मौलाना की सभी रचनाएँ

लोकप्रिय हुई, पर आरंभ के उपन्यासों में 'मलिकुन अजीज़ वर्जना', 'मंसूर मोहना', 'दुर्गेशनन्दिनी,' और 'शहीदे वफ़ा' को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और अन्तिम रचनाओं में 'हुस्न का डाकू', 'शौक़ीन मलका', 'ज़्याए हक़' और 'दरबारे हरामपूर' वेहद पसन्द किए गए।

मौलाना को साहित्यसेवा का इतना उत्साह था कि आज एक भी आदमी उनकी बराबरी करनेवाला नहीं दिखाई देता। ७० साल की उम्र हुई, ५५ वरस तक उर्दू भाषा की सेवा में संलग्न रहे। 'अवध अखवार' 'सहीफ़ए नामी' और 'हमदर्द' में काम किया, 'महशर', 'मुहज्ज़व' 'दिलगुदाज़', 'इत्तेहाद' 'परदए असमत', 'अल्इरफ़ान'—इन सब मासिकों में लेख लिखे। इनमें से 'दिल गुदाज़' को ४६ वरस तक चलाया। इसके वाद उनकी रचनाओं की ओर देखिए, तो उनकी गिनती १०० पुस्तकों से ऊपर है। 'दिलगुदाज़' के कितने ही लेख, इतिहास के कई अध्याय और उपन्यासों के कुछ परिच्छेद पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं। कुछ उपन्यासों का अनुवाद दूसरी भाषाओं में भी हुआ है।

शेष वय में मौलाना का झुकाव अध्यात्म की ओर हुआ और उसका आरंभ पुराने इसलामी सन्तों की जीवनी से हुआ। सवानेह उम्री ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, सवानेह अवूवकर शिवली और उसी प्रकार की अन्य पुस्तकें लिखीं। पक्के हनफ़ी सूफ़ी और रोज़ा नमाज़ के पाबंद हो गए। नमाज़ तो एक ही नियम से पढ़ते रहे। जो धर्मभीरुता अन्तिम

काल में उत्पन्न हो गई थी, उसका दरजा बहुत ऊँचा था। चालीस-पचास बरस की उम्र तक तुर्की टोपी पहनी और फ्रेंच दाढ़ी रखी, खिज़ाब भी लगाते रहे, पर इस समय उनका हुलिया और ही था। चौगिया (चौगोशिया) टोपी, लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, भरा हुआ बदन, मँझोला क़द, गोल तेजयुक्त मुख-मंडल, जबान पर इसलाम और इसलामी इतिहास की चर्चा थी। बातों-बातों में खुदा और रसूल की चर्चा का पहलू निकाल लेते थे।

अन्तिम काल में उनका आना-जाना बस घर से झँवाई-टोले तक रह गया था। पर यह असंभव था कि वह आवश्यकतावश हमारी ओर से निकलें और हमसे न मिलें और अपने दो-चार मिनट खर्च न कर दें। साल भर का अरसा हुआ, जब मौलाना कुछ बीमार हुए और स्वप्न में देखा कि उनके कुछ परलोकगत पूर्व पुरुष उनसे कह रहे हैं कि अब तुम चले आओ। मौलाना ने यह सपना लोगों को सुनाया और कहा कि अब आशा नहीं कि हम इस बीमारी से उठेंगे। मित्रों ने कहा कि आप घबराएँ नहीं, हम दुआ करेंगे और आप अच्छे हो जायँगे। संयोग से ऐसा ही हुआ। मौलाना अच्छे हो गए और ऐसे अच्छे हुए कि अपना काम अच्छी तरह करने लगे।

मौलाना १० बजे से क़लम लेकर बैठते और २ बजे तक बराबर लिखा करते थे। २ से ४ बजे तक कमरे में जाकर सोते थे या आराम से लेटे रहते थे। शाम को मित्रों से मिलने-

जुलने चले जाते थे, और अकसर ८-९ बजे रात को घर आते थे। लेख शैली जैसी पारदर्शितापूर्ण थी, वक्तृता वैसी न होती थी। पर आरंभ करने के बाद धीरे-धीरे उसे भी रोचक बना लेते थे और उपसंहार बहुत मनोरंजक होता था।

काव्य-रचना आपकी नाम मात्र है। शुरू जवानी में कुछ ग़ज़लें कही थीं और दो मसनवियाँ 'शवेग़म' और 'शवे वस्ल' लिखीं, जो लोकप्रिय हुईं। परन्तु काव्यकला के पंडित थे और उस पर अकसर भाषण किया करते थे।

अन्तिम उपन्यास नेकी का फल' लिखा था, जो मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस नाम से आपके महाप्रस्थान का सुन्दर अर्थ निकलता है।

विधि-विधान की विचित्रता को देखिए कि सन् १९२६ ई० को विदा करते हुए अपनी ही लेखनी से अपनी निधन वार्ता 'दिलगुदाज़' के पन्नों पर लिखते हैं, और यह नहीं सोचते कि मैं वर्ष का वर्णन नहीं, किन्तु अपनी हालत लिख रहा हूँ। लिखते हैं—

"इतनी ही थोड़ी मुद्दत में उसने बचपन की नादानियाँ, जवानी की उमंगें और बुढ़ापे की पुख्ताकारियाँ सब देख लीं और अब पाँच-छः रोज का मेहमान है।"

क्या मालूम था कि सचमुच यह लिखने के पाँच छः रोज के बाद मौलाना बीमार हो जायँगे और एक सप्ताह भी रोग-शय्या पर रहना न बदा होगा।

रेनाल्ड्स

जोशुआ रेनाल्ड्स सैमुएल रेनाल्ड्स का लड़का था। १६ जुलाई सन् १७२३ ई० को पैदा हुआ और अपने जीवन काल में ब्रिटिश चित्रकला को धरती से उठाकर आकाश तक पहुँचा गया। होगार्थ उस समय देश में प्रसिद्ध हो रहा था, पर उसकी तसवीरों की क़द्र करनेवाले बहुत थोड़े थे। उसने पुराने आचार्यों से शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, इसके विपरीत रेनाल्ड्स ने पुरानी पद्धति का अभ्यास किया था और माइकेल एंजेलो, राफ़ाएल और क्रेजियो का अनुयायी था। अतः जनसाधारण ने उसके चित्रों का आदर किया।

सैमुएल रेनाल्ड्स एक गाँव के पादरी थे, पर बहुसन्तति थे। होनहार रेनाल्ड्स उनका दसवाँ लड़का था। उसकी पढ़ाई-लिखाई क्या हो सकती थी। गाँव की पाठशाला में थोड़ी बहुत अँगरेजी और हिसाब लिखने का मौक़ा मिला और मानो सारी पढ़ाई पूरी हो गई। इस अल्पकाल में भी रेनाल्ड्स जैसा मेधावी बालक चाहता, तो बहुत कुछ सीख लेता, पर उसका मन गणित और व्याकरण के अभ्यास की अपेक्षा चित्रकारी में अधिक लगता था। घर पर बैठा तसवीरें बनाया करता। पादरी साहब कभी उसकी तसवीरें देख लेते तो नाराज़ होते और इस प्रकार समय नष्ट करने पर लड़के को मारते। जो हो, रेनाल्ड्स को बहुत थोड़े दिन

शिक्षा प्राप्ति का अवसर मिला; पर जब उसने होश सँभाला, कुछ नाम हुआ। डाक्टर जानसन, गोल्डस्मिथ, वर्क जैसे विश्वविख्यात पुरुषों से मिलने जुलने का मौक़ा मिला, तो उसने यह कमी अति अल्पकाल में पूरी कर ली। इस विद्वद्-गोष्ठी में अर्धशिक्षित जन भकुआ बनाकर निकाल दिया जाता था, पर रेनाल्ड्स का बड़ा आदर होता था। चित्रकला पर उसने जो व्याख्यान दिये हैं, अपनी सुन्दर शैली और बहुज्ञता के लिए अँगरेजी साहित्य में उनका बड़ा ऊँचा स्थान है।

उस जमाने में चिकित्सक का व्यवसाय बहुत सहज था। जिसने अँगरेजी और लैटिन की दो-चार पुस्तकें पढ़ लीं और किसी डाक्टर की दूकान में रहकर रोगों और ओषधियों के नाम याद कर लिये, वह चिकित्सा कार्य करने का अधिकारी हो जाता था। पादरी साहब ने रेनाल्ड्स के लिए यही पेशा तजवीज़ किया और अगर वह वैद्य व्यवसाय की ओर झुकता, तो निश्चय ही वैद्यराज बन जाता। उसका सिद्धान्त था कि श्रम, अध्यवसाय और लगन प्रतिभा के पर्याय हैं।

चित्रकला का पहला पाठ रेनाल्ड्स ने अपनी दो बहिनों से पढ़ा, जिनकी इस कार्य में कुछ रुचि थी। जो कुछ वह अंकित करतीं, रेनाल्ड्स तुरन्त उसकी नकल उतार लेता। इसके सिवा सचित्र पुस्तकों की भी नकल किया करता। इस प्रकार बचपन से ही उसकी दृष्टि में ग्रहणशक्ति और हाथों में सफाई आने लगी। अभी आठ ही बरस का था कि कहीं से चित्रकला की एक पुस्तक उसके हाथ लग गई। फिर

क्या था, बड़े प्रेम से उसका पारायण कर डाला। इस अध्ययन का फल यह हुआ कि उसने अपनी पाठशाला का एक नक़्शा खींचा। पादरी साहब ने यह नक़्शा देखा, तो बेटे की पीठ ठोंकी और जब रेनाल्ड्स को मालूम हो गया कि पिताजी भी मेरे शौक़ को पसन्द करते हैं, तो वह चित्रकारी में जी-जान से लग गया। धीरे-धीरे घर के सब लोगों के सबीह बना डाले। दोस्तों ने यह तसवीरें देखीं, तो बढ़ावे देने लगे। बीसवें साल ने उसे पक्का चित्रकार बना दिया।

पर जिस क़सबे में वह रहता था, वह बिलकुल गुमनाम था। कल्पना और विचारों को विस्तृत करने, कला के आचार्यों से मिलने, उनकी शिक्षा से लाभ उठाने और नाम-यश कमाने के साधनों का सर्वथा अभाव था। इसलिए आवश्यक हुआ कि वह लंदन जाकर कला का अभ्यास करे। हडसन उस समय मुखाकृति के चित्रण में प्रसिद्ध था। उसका शिष्य हो गया। पर हडसन में इसके अतिरिक्त और कोई योग्यता न थी। रेनाल्ड्स जैसा प्रतिभावान् बालक, जिसके हृदय में उच्चाकांक्षा और उमंगों का स्रोत उफन रहा था, उसकी शिक्षा से क्या लाभ उठा सकता था? हडसन ने उसकी प्रवृत्ति का अन्दाजा न पाया। मध्यम श्रेणी के एक इटालियन चित्रकार के चित्रों की उससे नक़ल कराने लगा।

रेनाल्ड्स ने इस काम को ऐसी खूबी से किया कि असल और नकल में बाल बराबर भी अन्तर न रहा। फिर भी उसने ज्यों त्यों करके यहाँ दो बरस काटे। इस अरसे में उसने

बहुत से चित्र बनाए। कहते हैं कि उनमें उसकी भावी यश झलक मौजूद है। शिष्य की कुशलता देखकर गुरु के हृदय में ईर्ष्या की आग जलने लगी। अन्त में एक चित्र; जिसके निर्माण में रेनाल्ड्स ने अपनी सारी कला लगा दी थी, दोनों के बिलगाव का कारण हुआ। उसने समझ लिया कि गुरुजी को जो कुछ सिखाना-पढ़ाना था, सिखा-पढ़ा चुके। अपने क़सबे को लौट आया। इस विच्छेद को वह अपने लिए बड़ा शुभ माना करता था, क्योंकि कुछ दिन वह और हडसन की शागिर्दी में रहता, तो उसको भी उसी नक्काली की आदत लग जाती, जो सच्ची चित्रकला की जानलेवा है। इस बेकारी में उसने तीन साल काटे, पर सच यह है कि इसी अभ्यास ने उसे रेनाल्ड्स बना दिया। इस समय चित्र बनाने के सिवा उसे और कोई काम न था। इसी काल में उसने प्रकृति की पुस्तक का भी अध्ययन किया, जो आगे चलकर उसके यश और सफलता में बड़ा सहायक हुआ।

जब वह हडसन की शिष्यता में था, एक दिन बाजार में नीलाम देखने गया। बहुत से आदमी मंडलाकार खड़े थे। अचानक 'पोप, पोप' का शोर हुआ और सुप्रसिद्ध कवि पोप आता दिखाई दिया। लोग सम्मान प्रकाश के लिए इधर-उधर हटने और झुक-झुककर अभिवादन करने लगे। जिसके पास से होकर वह गुज़रता, वह उसका हाथ छू लेता। जब रेनाल्ड्स की बारी आयी, तो पोप ने स्वयं उसके दोनों हाथ पकड़कर हिला दिए। रेनाल्ड्स सदा गर्व के साथ

इस घटना का वर्णन किया करता था। इससे प्रकट होता है कि विद्वानों के लिए उसके हृदय में कितना आदर था और उस काल के जनसाधारण पंडितों और कवियों के साथ कैसे प्रेम और आदर का बर्ताव किया करते थे।

रोम नगर सदा से चित्रकारों का तीर्थस्थान रहा है। यही नगर है, जहाँ यूरोपीय चित्रकला की नींव डाली गई थी। पीपलियों के समय से यह नगर नामी चित्रकारों का आवास रहा है। राफाएल, माइकेल एंजेलो, क्रेजियो, जिनको चित्र-विद्या का विश्वकर्मा कह सकते हैं, इसी पुनीत भूमि से उत्पन्न हुए थे। ल्यूनाडों और टेशीन इसी बस्ती के बसनेवाले थे। उन्होंने जो तस्वीरें ढालकर वहाँ की चित्र-शालाओं में रख दीं, वह आज तक बेजोड़ और चित्रकला की इयत्ता समझी जाती हैं। जैसे कालिदास, होमर और फिरदौसी का काव्य अनुकरण से परे है, उसी तरह ये चित्र भी नकल की नोच-खसोट से सुरक्षित हैं। सारे यूरोप के चित्रकला प्रेमी इन चित्रों को देखने जाते हैं। कोई चित्रकार उस समय तक चित्रकार नहीं बन सकता, जब तक इन चित्रों का भली भाँति अध्ययन न कर ले। यद्यपि उन पर चार-चार सदियों की धूल पड़ी हुई है; पर उनकी रंगत की ताज़गी में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। मालूम नहीं, कहाँ से ऐसे रंग लाये हैं, जो मद्धिम होना जानते नहीं।

रेनाल्ड्स ने रोम की बड़ी बड़ाई सुनी थी और उसके दिल से लगी थी कि किसी तरह वहाँ की सैर करे, पर पास

में पैसा न होने से लाचार था। आखिर उसके एक नाविक मित्र ने उसे रोम की सैर का निमन्त्रण दिया और दोनों दोस्त चल खड़े हुए। पहले पुर्तगाल की राजधानी लिसबन की सैर की, फिर जबलुल तारिक़ (?) गये और यहाँ से रोम पहुँचे। इस नगर ने पहले पहल चित्त पर जो प्रभाव डाले, उनका उसने विस्तार से वर्णन किया है। कहता है—

"अक्सर ऐसा होता है कि लोग पोप की चित्रशाला* की सैर के बाद जब विदा होने लगते हैं, तो पथदर्शक से पूछते हैं, यहाँ राफाएल के चित्र कहाँ हैं? वह इन तस्वीरों को सरसरी तौर पर देख जाते हैं और इनमें उन्हें कोई खास खूबी नहीं दिखाई देती। मैंने जब पहले-पहल चित्रशाला की सैर की, तो मुझको भारी निराशा हुई। यही स्थिति मेरे एक चित्रकार मित्र की थी। पर यद्यपि मुझको इन चित्रों को देखने से वह आनन्द न आया, जिसकी आशा थी, फिर भी एक क्षण के लिए भी मेरे मन में यह बात न आयी कि राफाएल की प्रसिद्धि दूर के ढोल हैं। मैंने इस विषय में अपने ही को दोषी ठहराया। ऐसी अद्भुत अनुपम वस्तुओं से प्रभावित न होना बड़ी लज्जा की बात थी। पर इसका कारण यह था कि न तो मैं उन सिद्धान्तों से परिचित था, जिन पर वह चित्र बनाए गए थे, और न इसके पहले कभी मुझे चित्र-कला के आचार्यों की कृतियाँ देखने का अवसर मिला था। मुझे

*यह चित्रशाला पोपलियों ने स्थापित की थी और इसमें इटली के यशस्वी चित्रकारों की कृतियाँ रखी हुई हैं।

अब मालूम हुआ कि चित्रकला के विषय में जो विचार मैं इंग्लैंड से लाया हूँ, वह बिलकुल ग़लत और बहकाने वाले हैं। आवश्यक जान पड़ा कि उन सब भ्रान्त विचारों को मैं अपने मन से निकाल डालूं और अन्त में ऐसा ही किया। इस निराशा के बाद भी एक तसवीर की नक़ल उतारने लगा। मैंने उसे बार-बार देखा, उसकी खूबियों और बारीकियों पर देर तक गौर किया। थोड़े ही अरसे में मेरे हृदय में नई रुचि और नई अनुभूति उत्पन्न हो गई।"

किसी कला के सौंदर्य को पहचानने, समझने और उससे आनन्द प्राप्त करने की योग्यता एक अर्जित गुण है, जो बिना कठोर श्रम, मनोनिवेश और अभ्यास के प्राप्त नहीं हो सकती। काव्य या संगीत की सच्ची और मार्मिक रसानुभूति प्राप्त करने के लिए इन्हीं बातों की आवश्यकता है। कौन नहीं जानता कि अनभ्यस्त दृष्टि सच्चे और झूठे मोती, काँच के टुकड़े और हीरे में कठिनाई से विभेद कर सकती है। यह साधारण बात है कि एक गँवार अरसिक व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे पहाड़, सुन्दर से सुन्दर झील और अद्भुत से अद्भुत उद्यान से वैसे ही उदासीन रहता है, जैसे सूखी रोटी और झोंपड़े से प्रभात की सुनहरी छटा, चाँदनी रात की मनोहारिता, नदीकूल की प्राणपोषक समीर, दूर्वादल की मखमली हरियाली, उसके लिए साधारण अर्थरहित बातें हैं। उसको इनके सौंदर्य की अनुभूति ही नहीं, यद्यपि यही वस्तुएँ हैं, जो एक संस्कृत रुचिवाले को आनंद-विभोर कर सकती हैं।

रेनाल्ड्स ने इन चित्रों के गुणों और विशेषताओं की बड़े विस्तार से विवेचना की है। कहीं उनके रंग-विधान के रहस्यों का उद्घाटन किया है। कहीं विभिन्न चित्रकला विशारदों की विशेषताओं की तुलना है। इटली में चित्रकारों के कई रंग या शैलियाँ हैं। रोम, वेनिस, फ्लोरेंस, मिलान प्रत्येक भिन्न-भिन्न रंग का केन्द्र है। रेनाल्ड्स ने हर एक रंग की खूबियों और बारीकियों की विस्तार से विवेचना की है; पर स्वयं किसी रंग का अनुसरण नहीं किया। चित्रकार को अपनी तुलना और निरीक्षण की शक्तियों पर खूब ज़ोर डालना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि अपने चित्रों के लिए वह दूसरों की पुस्तकों से नियम ढूंढ़े। चित्रों के अवलोकन और समीक्षा से उसे अपने नियम आप निकाल लेने चाहिए। नियम चित्रों से बनाए गए हैं, न कि चित्र नियमों से।

रेनाल्ड्स कहता है—"चूंकि नकल करने में दिमाग़ को कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ती, इसलिए धीरे-धीरे उसका ह्रास हो जाता है और उपज तथा मौलिक कल्पना की शक्तियाँ, जिनको खास तौर से काम में लाना चाहिए, इस अनभ्यास के कारण नष्ट हो जाती हैं।" इटली में वह तीन साल रहा, और हर रंग और हर ढंग के चित्रों और चित्र संग्रहों को अध्ययन की दृष्टि से देखा। परन्तु इंग्लैंड लौटकर उसने चित्रकला के जिस अंग को अपनाया, वह था शबीहनिगारी अथवा आकृति चित्रण। इसका एक कारण तो संभवतः यह होगा कि उस समय इंग्लैंड में कुछ क़द्र थी तो

इसी की, जैसा कि होगार्थ के एक चित्र से प्रकट होता है। दूसरा कारण यह था कि उसने स्वभावत: वह ऊँची कल्पना और उपज न पायी थी, जिसके बिना धार्मिक और ऐतिहासिक चित्र बनाना संभव नहीं है।

रोम से वापस आने पर वह कुछ दिनों देश में विचरण करता रहा। फिर लंदन में बस गया। जब उसने दो-एक चित्र बनाए, तो चित्रकारों ने हल्ला मचाना शुरू किया; क्योंकि उन चित्रों में प्रचलित रुचि और रीति का अनुसरण नहीं किया गया था। पर यह हो-हल्ला अधिक दिन न टिक सका। ग्राहक जब सौदा अच्छा देखता है, तब खुद मोल लेता है। उसे फिर इसकी परवाह नहीं होती कि दूसरे कलाकार उसके विषय में क्या कहते हैं। संभ्रांत पुरुष और स्त्रियाँ दल के दल पहुँचने लगीं। हर रईस की यह इच्छा होती थी कि चित्रकार मुझे वीर पुरुष या दार्शनिक बनाकर दिखाए। प्रत्येक भद्र महिला चाहती थी कि मैं स्वर्ग की अप्सरा बना दी जाऊँ, मेरे चेहरे की झुर्रियाँ तनिक भी दिखाई न दें। रेनाल्ड्स की निगाह गजब की पैनी थी, सबकी इच्छा पूरी कर देता था। वह कहा करता था कि शबीह बनानेवालों के लिए ऐसे स्वभाव की आवश्यकता होती है, जैसा डाक्टरों का होता है। उन्हें हर बात में अपने ग्राहकों का मन रखना पड़ता है।

सन् १७५४ ई० में रेनाल्ड्स की डाक्टर जानसन से मित्रता हो गई। वह डेवनशायर गया हुआ था। वहाँ उसे एक मित्र के यहाँ डाक्टर महोदय का लिखा हुआ कवि वाल्टर

सैवेज का जीवन चरित दिखाई दिया। उसमें ऐसा मन लगा कि उसने उसे खड़े-खड़े समाप्त करके दम लिया। उस समय से उसके मन में उस रोचक पुस्तक के रचयिता के दर्शन करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गई। संयोगवश एक रईस की आकस्मिक मृत्यु के अवसर पर दोनों का मिलन हो गया। उस व्यक्ति से बहुतों का उपकार होता था। लोग उसके हृदय और मस्तिष्क के सुन्दर गुणों की बड़ाई कर रहे थे। रेनाल्ड्स के मुंह से निकला—निस्सन्देह यह घटना बड़ी दुःखद है; पर अब बहुत से लोग उपकार के भार से छुटकारा पा गए। उपस्थित जनों को उसकी यह उक्ति बुरी लगी, पर डाक्टर जानसन बहुत प्रसन्न हुए और लोगों से कहा कि यह व्यक्ति विचारवान् जान पड़ता है। जब रेनाल्ड्स घर लौटा, तो डाक्टर साहब उसके साथ-साथ आये। इस प्रकार उस मित्रता का आरंभ हुआ, जो दोनों के जीते-जी बड़े प्रेम से निभ गई।

डाक्टर महोदय का स्वभाव रूखा, अभिमानी और कुछ-कुछ अक्खड़ था। उनके जीवन का बड़ा भाग अनादर, अर्थ-कष्ट और एकान्तवास में कटा था। ऊँची श्रेणीवालों के साथ न होने के कारण उठने बैठने और बातचीत का तौर-तरीका भी न जानते थे। इस कारण बड़े आदमियों की मंडली में उनका अधिक आदर मान न होता था। इसमें सन्देह नहीं कि उनके पांडित्य की धाक सब पर बैठी हुई थी। पर उसके साथ ही उनका भोंडा तौर-तरीक़ा, कुरूप चेहरा, मुँहतोड़ उत्तर देने की आदत और बेलाग स्पष्टवादिता

उन्हें धनी और प्रभावशाली पुरुषों के हृदयों में स्थान न पाने देती थी।

लक्ष्मी के कृपापात्र विद्या बुद्धि में छोटे ही क्यों न हों, यह नहीं भूलते कि हम रईस हैं। वह चाहते हैं कि विद्वान् हो या गुणी, जब प्रार्थी बनकर आये, तो खुशामद और नाज़बरदारी का सामान साथ लेता आये। डाक्टर जानसन के स्वभाव में यह बात न थी। वह जब उनकी मण्डली में आते, तो मुस्कराकर और सिर झुकाकर आदर की प्रार्थना न करते थे; किन्तु सम्मान को अपनी योग्यता का पुरस्कार समझते थे। और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए और उनकी विद्वत्ता और विचारशीलता का परिचय लोगों को मिलता गया, त्यों-त्यों उनमें झल्लापन और कटुभाषिता के दोष होते हुए भी छोटे-बड़े सभी उनके सामने श्रद्धा से सिर झुकाने को बाध्य हुए।

इसके विपरीत रेनाल्ड्स स्वभावतः हँसमुख और मिलनसार था और आवश्यकतावश ऊँची श्रेणी के रहन-सहन का अनुसरण करता था। चित्रकला के पुराने आचार्यों में उसे सच्ची श्रद्धा थी। राफाएल और माइकेल एंजेलो को वह किसी सिद्ध महात्मा या पैग़म्बर से कम न समझता था। कहता है—"चित्र में स्वाभाविकता का होना कला-निपुणता है और इसकी कमी, चाहे रंग भरने में हो या प्रकृत चित्र में, दोष है। रंग-विधान दो प्रकार का होता है। एक परिष्कृत सुन्दर और सौम्य, दूसरा चटक, भड़कीला और आँखों में

समा जाने वाला। कलाकार पहले प्रकार के रंग का व्यवहार करते हैं, व्यवसायी चित्रकार दूसरे प्रकार के रंग का। कुछ चित्रकारों का ख़याल है कि ऐसी सादगी चित्र को उदास और अंधा दीपक बना देती है; पर यह कला का दोष है। इससे चित्र की शान्तिदायिनी शक्ति घट जाती है।"

रेनाल्ड्स को विद्वानों की संगति बड़ी प्रिय थी। शाम को चार बजते ही उसकी मेज़ सजा दी जाती थी और गुणीजन उसके इर्द-गिर्द जमा होने लगते थे। कवि अपनी कविता वहां सुनाते और काव्य रसिकों से दाद पाते थे। जानसन इस मंडली के नेता थे। गोल्डस्मिथ भी कभी-कभी आ निकलते और अपनी सरलता भरी बातों तथा बालोचित चेष्टाओं से मंडली का मनोरंजन करते थे। धुरन्धर राजनीतिज्ञ और वक्ता एडमण्ड बर्क भी अकसर दिखाई देते थे, पर वह स्वभाव के अधिक विनोदप्रिय और चुलबुले न थे। रेनाल्ड्स विद्वानों का आदर ही न करता था, अक्सर उनकी आर्थिक सहायता भी करता था। जिस व्यक्ति की बड़ाई जानसन और बर्क की लेखनी से निकली हो, उसके अमरत्व लाभ में काल कब बाधक हो सकता है?

१७६० ई० में रायल एकेड्मी की नींव पड़ी। इंग्लैंड में यह चित्रकला की नियमित शिक्षा का पहला यत्न था, जिसकी आबोताब में कई सदियाँ गुजर जाने पर भी कोई अन्तर नहीं आया। रेनाल्ड्स इस विद्यालय का अन्तकाल तक अध्यक्ष रहा।

ऊपर कहा जा चुका है कि रेनाल्ड्स के हृदय में पोप कवि के लिए बड़ा आदर था। पोप को जब काव्य रचना से अवकाश मिलता, तो चित्रकारी किया करते। हाथ के एक पंखे पर उन्होंने एक यूनानी कहानी को ज़री के तारों से चित्रित किया था। यह पंखा बाजार में नीलाम होने के लिए आया। रेनाल्ड्स को इसकी खबर मिली, तो उसने एक आदमी भेज दिया कि वह ३० पौंड तक बोली बोलकर इस दुष्प्राप्य वस्तु को खरीद ले। मगर वह हजरत ३० शिलिंग से आगे न बढ़े। आखिर एक दूसरे खरीदार ने उसे दो पौंड पर ले लिया। रेनाल्ड्स को इस पंखे का इतना शौक था कि उसने दूना दाम देकर उसे नए खरीदार से खरीद लिया।

एक दावत के मौके पर जानसन, बर्क, गेरिक, गोल्डस्मिथ सब जमा थे। आपस में खूब गप हो रही थी। अकस्मात् किसी ने कहा—आओ, एक दूसरे को मृत्यु का कुतबा कहें, पर शर्त यह है कि वह आशु रचना हो। इस पर लोगों ने अपना-अपना कवित्व दिखाना आरम्भ किया। गेरिक को शरारत जो सूझी, तो व्यंग्योक्ति के कुछ पद्य कहे, जिनमें गोल्डस्मिथ की खबर ली गई थी। गोल्डस्मिथ को यह शरारत बहुत बुरी लगी। इसके जवाब में उन्होंने 'बदला' नाम से एक ज़ोरदार कविता लिखी। दुःख है कि इस जन्मसिद्ध कवि की यही अन्तिम रचना थी। ऐसा बेपरवाह, ऐसा मस्त स्वभाव का और ऐसी सुन्दर कल्पनावाला कवि

अँगरेजी भाषा में फिर न उत्पन्न हुआ। यह लोकोत्तर प्रतिभा जिस देह में छिपी थी, वह कुछ अधिक सुन्दर न थी। रेनाल्ड्स ने गोल्डस्मिथ का जो चित्र खींचा है, उसमें वह बहुत ही कमजोर दिखाई देता है। पर उसकी बहिन का कहना है कि रेनाल्ड्स ने जितनी चापलूसी इस चित्र के बनाने में खर्च की, उतनी और किसी चित्र में नहीं की। रूप और गुण में अन्तर होना असाधारण बात नहीं है।

१७७१ ई० में रेनाल्ड्स ने उगोलीनो (Ugolino) का चित्र बनाया। यह इटली के सुप्रसिद्ध कवि दान्ते की एक रचना का नायक है। पर रेनाल्ड्स जैसा चित्रकार, जो रमणियों के होंठ और ग्रीवा का शृंगार करने में अपनी कला का उपयोग करता रहा हो, दुःख और विपत्ति की कहानी को किस प्रकार चित्रित कर सकता है। दान्ते का दृढ़चित्त नायक रेनाल्ड्स के आलेखन में क्षुधा क्षीण और विपन्न दिखाई देता है। उसके वज्र सकल्प और महानुभावता का तनिक भी परिचय नहीं मिलता। पर रेनाल्ड्स की पेंसिल से जो कुछ निकलता था, उसका आदर होना निश्चित था। एक रईस ने इस चित्र को ४०० पौंड में खरीद लिया। इसी साल जुलाई महीने में रेनाल्ड्स आक्सफ़र्ड की सैर को गया, जहाँ उसकी बड़ी आवभगत हुई और सम्मानरूप में 'डाक्टर आफ ला' (कानून के आचार्य) की उपाधि प्राप्त हुई। यहाँ उसकी मुलाकात डाक्टर बीटी से हुई, जिसकी गणना उन दिनों विद्वानों और विचारकों में थी। 'सत्य की

अपरिवर्तनशीलता' पर उसने एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उसने गिबन, वाल्टेयर और ह्यूम जैसे स्वाधीनचेता विद्वानों की निन्दा की थी। रेनाल्ड्स स्वयं दर्शनशास्त्र से परिचित न था, इसलिए उसके हृदय में डाक्टर बीटी के लिए बड़ा आदर उत्पन्न हो गया।

जब वह लंदन आया, तो उसने बीटी का एक चित्र बनाया, जो उसकी सर्वोत्तम कृतियों में है। बीटी आक्सफ़र्ड के पंडितों के पहनावे में बैठा है। 'सत्य की अपरिवर्तनशीलता' उसकी बग़ल में है। उसके पार्श्व में सत्य का देवता खड़ा है, जो नास्तिकता, धर्मविमुखता और अवज्ञा पर विजयी हो रहा है। इन पराजित आकृतियों में से, एक बहुत दुबली और विलासप्रिय दिखाई देती है। यह नास्तिकता का चित्र है और वाल्टेयर से मिलती है। दूसरी हृष्ट-पुष्ट, मोटी-ताज़ी है। यह धर्मविमुखता की तसवीर है और ह्यूम से मिलती है। तीसरी अवज्ञा का चित्र है और गिबन का प्रतिबिम्ब जान पड़ती है। गोल्डस्मिथ ने इस चित्र को देखा, तो उसके रोष की सीमा न रही। बोला, "आप ऐसे गुणी के लिए इस हद तक चापलूसी पर उतर आना बड़ी ही निन्दनीय बात है। आपको वाल्टेयर जैसे महामति पुरुष को बीटी जैसे मूर्ख बकवासी के मुकाबले में ज़लील करने का क्योंकर साहस हुआ? बीटी और उसकी पुस्तक दस बरस में विस्मृति के गर्त में विलीन हो जायगी, पर आपकी कृति और वाल्टेयर की कीर्ति अमर है।" गोल्डस्मिथ ने बहुत ठीक कहा था।

चोटी का अब कोई नाम भी नहीं जानता, पर वाल्टेयर, ह्यूम और गिबन के नाम दुनिया में सूर्य की तरह चमक रहे हैं।

रेनाल्ड्स के चित्रों का रंग टिकाऊ न होता था। शोख और भड़कीले रंगों को वह खुद नापसन्द करता था, पर उसके अधिकतर चित्र चटकीले ही दिखाई देते हैं। इसका कारण सम्भवत: यह है कि उसे आपने ग्राहकों का मन रखना था और उस समय की लोकरुचि चटकीले चित्रों को अधिक पसन्द करती थी। वह अपने रंग-विधान के नियम और विधि किसी को भी न बताता था। प्रिय शिष्यों को भी उसने अपने रंगों का मसाला न बताया। उसकी यह कृपणता बिलकुल भारतीय गुणियों की जैसी थी, जो अपने गुण और करतब अपने साथ ले जाते हैं। हाँ, वह स्वयं पुराने उस्तादों के रंगरोगन की विधियों की जाँच-पड़ताल किया करता था। उसने अपनी कमायी का बहुत बड़ा हिस्सा चित्रकला के उत्कृष्ट नमूनों को खरीदने में खर्च किया। उसका संग्रह आज तक मौजूद होता, तो वह इस ललित कला की बहुमूल्य निधि समझा जाता। पर रेनाल्ड्स ने उन्हें शोभा शृंगार के लिए न खरीदा था, खोज अनुसंधान के लिए खरीदा था। एक-एक चित्र को लेकर वह चिकित्सकों की तरह चीड़फाड़ करता था, जिसमें उसे मालूम हो जाए कि अस्तर किस रंग का है, उस पर कौन रंग दिया गया और कौन-कौन से रंग एक में मिलाए गए थे। इस परीक्षा के बाद तसवीर किसी काम की नहीं रह जाती थी।

रेनाल्ड्स के चित्रों से प्रकट होता है कि वह प्रकृति का बड़ी सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि से निरीक्षण किया करता था। अपनी कला के हीरे विभिन्न खानों से निकालता। कैसी ही तुच्छ सम्मत्ति क्यों न हो, उस पर अवश्य ध्यान देता। बच्चे तो मानो उसके शिक्षक ही थे। उसका कथन था कि बच्चों की चेष्टा और अंगभंगी बनावट से रहित होने के कारण मोहक होती है। बच्चे उसकी चित्रशाला में आते, तो उनकी चेष्टाओं को वह बड़े ध्यान से देखा करता और जब वह मारे खुशी के फूल उटते और चित्रों की भावभंगी का अनुकरण करने लगते, तो इस दृश्य से उसे बड़ा आनन्द मिलता। अपने एक संस्मरण में वह लिखता है, "मेरी समझ में नहीं आता कि अनभिज्ञ (अनधिकारी ?) व्यक्ति का मत चित्रों के विषय में क्यों न स्वीकार किया जाए ? जैसे अगर कोई साधारण आदमी किसी चित्र को देखकर कहे कि इसका आधा चेहरा क्यों स्याह है या नाक के नीचे काला धब्बा क्यों है, तो मैं यह नतीजा निकाल लूंगा कि रंग गहरा हो गया है या अच्छी तरह साफ़ नहीं किया गया। अगर यह रंग प्रकृति के अनुरूप होते, तो किसी का ध्यान उनकी ओर न जाता।"

रेनाल्ड्स की ख्याति दिन-दिन बढ़ती जाती थी। १७८५ ई० में रूस की सुप्रसिद्ध महरानी केथराईन ने उससे एक तसवीर की फ़रमाइश की। महीनों के सोच-विचार के बाद उसने एक विषय चुना, जो कल्पना और रोचकता की दृष्टि से साधारण है। महारानी केथराईन संकल्प व विचारों की

दृढ़ता में अपना सानी न रखती थीं। इतिहास इसका गवाह है। इसलिए रेनाल्ड्स ने शिशु हरक्युलीज़ को दो साँपों का गला घोंटते हुए दिखाया। यद्यपि केथराईन को ऐसी जटिल कल्पना के समझने की बुद्धि न थी। फिर भी उसने दिल खोलकर क़द्रदानी की। ५०० पौंड पुरस्कार और एक सोने की सन्दूकची, जिसमें उसका चित्र था, उपहार रूप में भेजी।

उन्हीं दिनों इंग्लैंड के एक मनचले प्रकाशक ने शेक्सपियर की रचनाओं के सचित्र संस्करण निकालने का विचार किया। रेनाल्ड्स ने उसके लिए तीन चित्र बनाए। पहला चित्र उस हास्यावतार का है, जिसका नाम अँगरेज़ी साहित्य में दृष्टान्त बन गया है। पिक एक बहुत ही चपल चुलबुले स्वभाव का विदूषक है, जो रँगीले बादशाह आठवें हेनरी का सखा है। रेनाल्ड्स ने इस चित्र में सचमुच करामात कर दी है। उसका हाथ कोई शरारत भरी चेष्टा करने को उद्यत दिखाई दे रहा है और आँखों से किसी को छेड़ने, किसी से कोसे जाने और गालियाँ सुनने की लालसा टपक रही है। दूसरा चित्र मैकबेथ का है, जिसमें सरोवर और चुड़ैलों का दृश्य दिखाया गया है। इस रंग में उसके और भी उत्तमोत्तम चित्र विद्यमान हैं।

सर जोशुआ रेनाल्ड्स अब ६६ बरस का हो गया था और यद्यपि धन मान में कोई कमी न हुई थी, पर दोस्तों के उठ जाने का दुःख, इनसे मिलने वाले सुख से बहुत अधिक था। गोल्डस्मिथ, जानसन, बर्क़, गैरिक सब एक-एक करके

साथ छोड़ते गए। यहाँ तक कि १७८९ ई० में उसके नाम भी काल का बुलावा आ पहुँचा। आँखों की ज्योति जाती रही। १७९२ ई० में उसने इस नाशवान् जगत् को त्यागकर परलोक को पयान किया।

उच्च कोटि की वहुसंख्यक अनुकृतियाँ ही रेनाल्ड्स की यादगार नहीं हैं, उसकी विद्वत्तापूर्ण वक्तृताएँ और कवित्वमय तथा ऐतिहासिक चित्र भी उसकी कला निपुणता का सिक्का सदा लोगों के दिलों पर वैठाते रहेंगे। भाषणों से उसका उद्देश्य उत्साही नवयुवक चित्रकारों के हृदय पर इस कला की महत्ता स्थापित करना, उनमें प्रिय और नियमित अभ्यास की आदत डालना और चित्र के अच्छे सिद्धान्तों से परिचित कराना था। क्या-क्या उपाय किए जाएँ, किन-किन नियम-विधियों का अनुसरण किया जाए, धूपछाँह का किस प्रकार व्यवहार किया जाए कि चित्रों में वही चमत्कार उत्पन्न हो जाए, जो पुराने उस्तादों की कृतियों में पाया जाता है। वह केवल प्रतिभा और प्रवृत्ति का ही कायल न था। उसका उपदेश था कि इस कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए दिन-रात जुटे रहना, अनवरत चिन्तन और उस्तादों की कृतियों में सच्ची श्रद्धा रखना आवश्यक है।